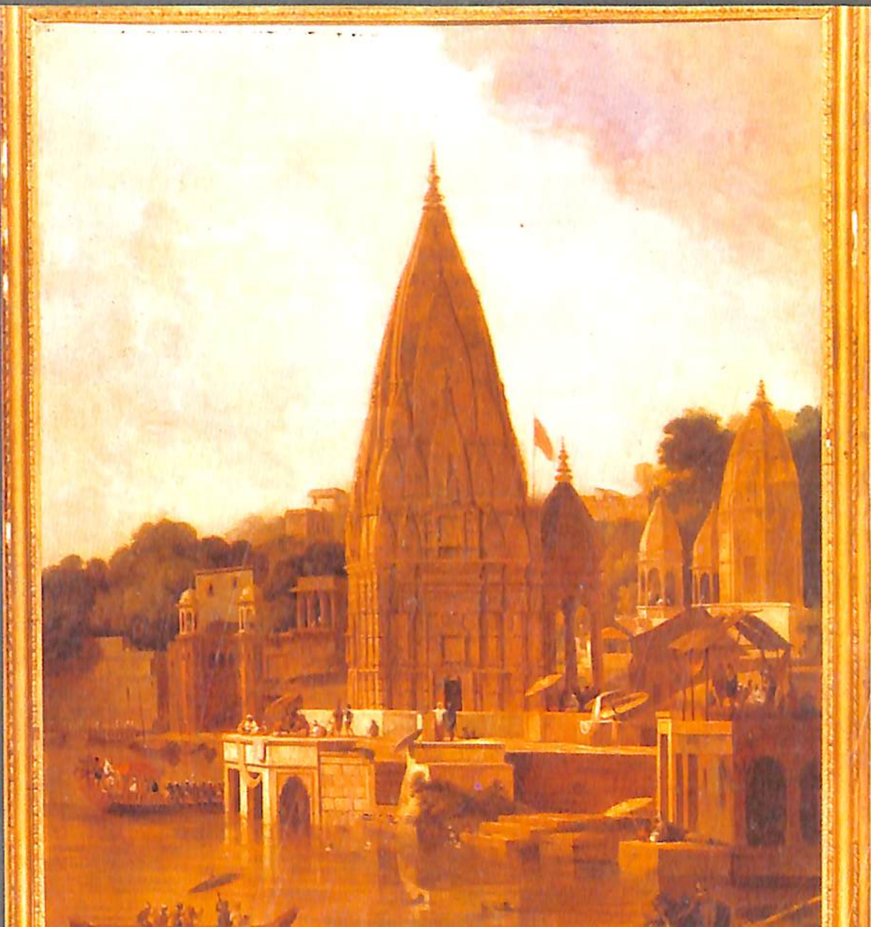
शेष

दो ज़बानों की एक किताब

अप्रैल-जून, 2006



पेशकश : हसन जमाल

20/-

शेष 40 अप्रैल-जून, 2006

- *रशीद हसन ख़ां*
- *जमाल पानीपती*
- *हसन आबिदी*
- *इफ़्फ़त मोहानी*
- *सय्यदा हिना*
- *निश्तर ख़ानकाही*
- *नौशाद अली*
- *मनोहर श्याम जोशी*
- *योगेश गुप्त*
- *कानदान 'कल्पित'*
- *अब्दुल वहीद 'कमल'*
- *जगदीश विमल*

को

शेष *की जानिब से ख़िराजे-अक़ीदत और श्रद्धांजलि।*

शेष

दो ज़बानों की एक किताब

एक तिमाही इंतिख़ाब-40

तर्जुमा व तर्तीब : **हसन जमाल**

☛ पन्ना निवास (साइकिल मार्केट) के पास, लोहारपुरा, जोधपुर-342002 Mob.: 98293-14018

जिल्द : पांच	शुमारा - तीन	अप्रैल-जून, 2006

एक कॉपी : 20/- ★ सालाना : 80/- + 20/- महसूल डाक ★ पांच साल : 350/-

फ़ेहरिस्त

मेहमान इदारिया : योरोप में फासीवाद की वापसी / सुरेश पंडित 3

मज़ामीन : 1. इल्म से इस्लाम का रिश्ता / इक़्तिदार हुसैन फ़ारूक़ी 8
2. हिंदी प्रकाशन : उद्योग के रूप में / जवरीमल्ल पारख 13
3. डॉ. रशीदजहां और प्रगतिशील आंदोलन / प्रो. फ़ातमी 19
4. नासिर काज़मी और पहली बारिश / मुहम्मद ज़करिया 31
5. नयी दुन्या का मुसाफ़िर / सलीम अहमद 41

तक़रीर : मेरे नॉवेल और मैं / ओरहान पामुक 47

यादनामा : ज़िंदगी का नया सफ़र / अली अमजद 55

मुतालआ : कुछ उनकी कहानी, मेरी ज़बानी / रामप्रकाश कपूर 67

ख़्वाबो-ख़याल : इंडिया इंटरनेशनल में सकुचाए प्रेमचंद / फ़ज़्ल इमाम मल्लिक 73

अहदे-रफ़्ता : 1. कलामे इब्ने इंशा 86
2. ग़ज़लें : नासिर काज़मी, मुश्फ़िक़ ख़्वाजा 92, 93

पाक-नज़्में : हसन आबिदी, किश्वर नाहीद, मु. अनवर ख़ालिद,
रज़ा मुज्तबा, सर्वत ज़ुहरा, ज़ीशान साहिल,
गुलनार आफ़रीन 94-106

कहानियां : 1. आज़ारयां / नय्यर मस्ऊद 107

2. टॉयलेट पेपर / फ़ैसल नवाज़ चौधरी 114
3. सद्भावना के पुल / जसवंतसिंह विरदी 121
4. पत्थर पर फ़स्ल / डॉ. सतीश दुबे 126
5. कहानी का पोस्टमार्टम / सीमा स्वधा 134

व्यंग्य-संस्मरण: सिकगीरी / हरदर्शन सहगल 142

लघुकथाएं : 1. अंकल बाज़ू हटाइये ना / शंकरलाल मीणा 146
2. सामाजिक न्याय, बीच का रास्ता / अशफ़ाक़ क़ादरी 147
3. रहम / मीतादास 148

ग़ज़लें : सरफ़राज़ शाकिर, मोईनुद्दीन 'शाहीन', अलिफ़ नाज़िम, इक़बाल हुसैन, अनिल पठानकोटी, मो. फ़ारूक़ रज़ा 149-152

शख़्सियत : 1. दिलीपकुमार : क़लमकारों की नज़र में / ख़लील तनवीर 153
2. दिलीपकुमार पर लिखने का मौसम / ज़ुबैर रिज़्वी 155

परख :
1. हमेश नज़्में (अहमद हमेश) / अम्बर बहराइची 159
2. ग़ालिब : संगीत के सांचे में (टी.एन. राज़) / डॉ. सैफ़ी सिरोंजी 160
3. चार बहनें शीश महल की (नासिरा शर्मा) / सलीम शहज़ाद 162
4. कला का समय (जाबिर हुसैन) / डॉ. अवधबिहारी पाठक 166

ख़तों से : 168

कवर : संस्कृति, दिल्ली

'शेष' उर्दू ज़बान के लिये उर्दू लिपि का हामी है. उर्दू के लिये देवनागरी की वकालत करने वाले उर्दू ज़बान के ख़ैरख़्वाह नहीं हैं. लिपियां ज़बानों पर थोपी नहीं जातीं. लिपियां ज़बानों की हमज़ाद होती हैं.

'शेष' के मालिक, पब्लिशर व एडिटर हसन जमाल के लिये, प्रिण्टर्स यशवन्त भण्डारी द्वारा भण्डारी ऑफसेट, जोधपुर के लिये हिन्दुस्तान प्रिण्टिंग प्रेस, जोधपुर से छपा और पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर (राज.) से शाए हुआ. लेज़र टाइपसेटिंग : सूर्या कम्प्यूटर, जोधपुर.

तीन सौ रुपये से कम के चैक क़बूल नहीं किये जाएंगे.
चैक/ड्राफ़्ट सिर्फ़ 'शेष प्रकाशन' या हसन जमाल के नाम से ही भेजे जाएं.

यौरोप में फासीवाद की वापसी

सुरेश पंडित

ज़ियाउद्दीन सरदार का नाम हिन्दुस्तान के लोगों, ख़ासकर यहाँ के मुसलमानों के लिये उतना जाना-पहचाना नहीं है, जितना दुनिया के दूसरे देशों ख़ासकर योरोप के देशों के उन बाशिन्दों के लिये है जिनका रिश्ता इस ज़माने में भी गंभीर किताबें पढ़ने और नये विचार जानने से बदस्तूर बना हुआ है. वे एक जाने माने समाजशास्त्री, राजनीति विज्ञान के ज्ञाता, प्रख्यात मुस्लिम विद्वान और भविष्यशास्त्र (फ़्यूचरोलोजी) के विशेषज्ञ हैं. उनका भविष्यशास्त्र हिन्दुस्तानी ज्योतिष या नुजूमियों की विद्या की तरह अतार्किक भविष्यवाणी करने वाला या भाग्य और भगवान पर अन्धी आस्था के लिये लोगों को प्रवृत्त करने वाला नहीं है, बल्कि इसके विपरीत ठोस वैज्ञानिक आधार पर मनुष्य जाति के आगे बनने वाले भविष्य की सही-सही रूपरेखा को आकार देने वाला है. विज्ञान और तकनीकी का मौजूदा रुझान मानवता को आगे किस दिशा में ले जायेगा, किस तरह के संकटों का उसे सामना करना पड़ेगा, इसी तरह की बातों का इस शास्त्र के सहारे अध्ययन किया जाता है. पश्चिम की अधिकतर यूनिवर्सिटियों में अब यह एक आवश्यक विषय के रूप में मान्य हो गया है और एशिया, अफ़्रीक़ा के देश भी इसे अपने यहां चालू करने की तैयारी करने लगे हैं. ज़ियाउद्दीन सरदार इस विषय पर व्याख्यान देने विभिन्न विश्वविद्यालयों में तो जाते ही रहते हैं, 'फ़्यूचर्ज' नाम की एक पत्रिका का संपादन भी करते हैं. कहना न होगा उनकी यह पत्रिका अपने विषय की जानकारी देने वाली एक अद्वितीय पत्रिका मानी जाती है.

वे एक पुस्तक जिसका नाम है–'डेस्पेरेटली सीकिंग पैराडाइज : जर्नीज ऑफ़ ए सैप्टिकल मुस्लिम' के लेखक हैं और इसी के कारण उन्हें इस्लाम के एक सर्वाधिक प्रामाणिक, किन्तु अत्यन्त संयत प्रवक्ता के रूप में ख्याति मिली है. योरोपीय मीडिया द्वारा प्रसारित हज़रत मोहम्मद पैगंबरे-इस्लाम के कार्टून को लेकर दुनिया में उठे तूफ़ान

पर उनके द्वारा प्रकट किये गये विचार इसलिये ख़ास तौर पर ग़ौर के क़ाबिल हैं, क्योंकि वे इस्लाम के प्रति अपनी आस्था को सर्वोपरि रखते हुए भी भावुकता से स्वयं को अलग रखते हैं. वे इस मुद्दे के पक्ष और विपक्ष दोनों पर बड़ी संजीदगी से विचार करते हैं और अपने मज़हब के भाइयों व बहनों से समसामयिक सन्दर्भ में इस्लाम के सिद्धान्तों के पुनर्निरूपण करने की गुज़ारिश करते हैं.

लोकप्रिय कॉलमिस्ट हसन सुरूर को 'हिन्दू' अख़बार के लिये पिछले दिनों दिये गये एक इन्टरव्यू में हज़रत मोहम्मद के बारे में डेनिश समाचार पत्र में छपे कार्टून पर दुनिया भर में मुसलमानों ने जिस तरह की उग्र प्रतिक्रिया प्रकट की है उससे यह फिर सिद्ध हो गया है कि यह समुदाय न केवल असहनशील है बल्कि लड़ाकू भी है, के जवाब में वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि सचमुच कार्टून पर मुस्लिम समुदाय की प्रतिक्रिया अकल्पित रूप से अतिवादी रही है. राजदूतों के कार्यालयों और आवासों को जलाने या जलाने की धमकी देने जैसी घटनाओं ने इस बात को और अधिक पुष्ट कर दिया है कि वह हिंसक और आक्रामक है. लेकिन वे कहते हैं कि यह एक अधिक बड़ी समस्या का लक्षण मात्र है. वास्तव में वह (मुस्लिम समुदाय) आधुनिकता के इस तरह के कारकों को उसी की भाषा में कैसे जवाब दिया जाये, यह बात जानता ही नहीं. वे कार्टून कोई 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के उद्देश्य से नहीं छापे गये हैं, बल्कि अपनी ताक़त, अपनी पिशाच प्रवृत्ति को नंगे रूप में दिखलाने के लिये छापे गये हैं. उनके अनुसार इस्लाम के अनुयायी हिंसक हैं. लड़ने-मरने के लिये उतारू रहते हैं. वे (मुस्लिम) पैदाइशी लड़ाकू हैं, इसलिये अनिवार्यतः दुष्ट भी हैं. कोई संस्कृति या किसी भी मज़हब को मानने वाले लोग इस तरह की नग्न पैशाचिक मानसिकता के प्रदर्शन को सहन नहीं कर सकते. इस दृष्टि से देखें, तो मुसलमानों के विश्व व्यापी विरोध प्रदर्शन किसी भी सूरत में नाजायज़ या ग़ैरवाजिब नहीं लगते. पिछली बार योरोप ने अपनी इसी आसुरी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करके बहुत सारे लोगों को मौत के घाट उतार दिया था. अब वह फिर वही क्रूर खेल खेलना चाहता है.

ज़ियाउद्दीन सरदार कहते हैं—मेरी स्पष्ट मान्यता है कि ये कार्टून उस नस्लवाद और इस्लाम के प्रति घोर घृणा के प्रतिबिम्ब हैं, जो आजकल योरोप में तेज़ी से फैल रहा है. यह यहीं नहीं रुकेगा. इसलिये हमें इसका अधिक सुचिन्तित उत्तर देना होगा जो यह एहसास दिला दे कि मुसलमान बिल्कुल ही निश्शक्त लोग नहीं हैं. इसका तात्पर्य यह है कि मुसलमानों को समकालीन विश्व दृष्टि/जनमत को ध्यान में रखते हुए इस्लाम के बारे में पुनर्विचार और पुनर्निरूपण करने की ज़रूरत है. लेकिन इसका अर्थ यह बिल्कुल भी नहीं है कि वे अपनी धार्मिक मान्यताओं को बदल दें, बल्कि यह है कि वे इस्लाम के विचारों को, उसके सिद्धान्तों को इस तरह उपयोग में लायें जिससे यह प्रकट हो कि इस्लाम यांत्रिक आधुनिकता और फ़ैशनेबल उत्तर-आधुनिकता

से भी परे या ऊपर की चीज़ है.

लेकिन जब से यह कार्टून प्रकरण गरमाया है लोगों ने फिर से हन्टिंग्टन के द्वारा प्रतिपादित 'संस्कृतियों की टकराहट' सम्बन्धी भविष्यवाणी के सही साबित होने की बात कहना शुरू कर दिया है. पर ज़ियाउद्दीन ऐसा नहीं मानते. वे कहते हैं कि संस्कृतियों के द्वन्द्व के लिये ज़रूरी है कि मैदान में दो संस्कृतियां हों. पर यहाँ तो दूसरी संस्कृति नदारद है. पश्चिमी संस्कृति के बारे में वे गांधी के उस प्रसंग को उद्धृत करते हैं जिसमें जब उनसे यह पूछा गया था कि वे पश्चिम की संस्कृति के बारे में क्या सोचते हैं? तब उन्होंने कहा था कि वह एक अच्छा विचार है. गांधी ने ज़ोर देकर कहा था—पश्चिम को एक संस्कृति की प्रतिष्ठा नहीं दी जा सकती, क्योंकि संस्कृत समाज दूसरे समाजों की संस्कृतियों और उनके मूल्यों को नीचा दिखाने और कलुषित करने की चेष्टा कभी नहीं करते. इस्लाम एक ऐसे खंडित राष्ट्र-राज्यों की श्रृंखला है जिन पर स्वेच्छाचारी शासक शासन कर रहे हैं. इतिहास में चाहे इस्लाम और पश्चिम आपस में टकराते रहे हैं, पर इसी वजह से हम उसे अपने सम्बन्धों का आगे के लिये भी मुद्दआ बनाये रखें, इसमें कोई बुद्धिमानी नहीं है. दोनों ही संस्कृतियां एक दूसरे के प्रति विश्वास व आदर भाव रखते हुए साथ-साथ रह सकती हैं और आगे बढ़ सकती हैं. दोनों के बीच की सामान्य पृष्ठभूमि मतभेदों की जगह समरसता बनाये रखने पर अधिक फलदायक हो सकती है. दोनों की धार्मिक परम्पराओं का उद्गम स्रोत एक है. इस्लाम और ईसाई धर्म दोनों ही अपनी वंशावली की शुरुआत पैगंबर इब्राहीम स.व. से मानते हैं. लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि पश्चिमी उदारवाद और मानवतावाद के विचार का उद्गम इस्लाम के सिद्धान्तों और उनके दर्शन में निहित है. यथार्थ में ग्रीक विचारधारा योरोप में मुस्लिम विश्व के रास्ते से ही आई थी. इसलिये इस्लाम और ईसाइयत को दो विरोधियों के रूप में देखने के बजाय उन्हें एक ही ऐतिहासिक माता-पिता की दो सन्तानों के बतौर भी देखा जा सकता है. लेकिन ऐसे लोग दोनों ही तरफ़ मौजूद हैं जो जी-जान से इन दोनों को परस्पर टकराने के लिये आमादा हैं. ऐसे माहौल में हर जगह रह रहे समझदार व संवेदनशील लोगों का इस पागलपन के ख़िलाफ़ खड़े होना व इसका मुक़ाबला करना बेहद ज़रूरी है.

ज़ियाउद्दीन लोगों की इस राय से सहमति जताते हैं कि मुस्लिम समुदाय का एक तबक़ा न केवल असहिष्णु है, बल्कि कट्टर भी है. लेकिन वे नहीं मानते कि दुनिया का हर मुसलमान ज़हर बुझा ही है. समकालीन इस्लाम की अनेक विशेषताओं में से एक है, मन को असमंजस में डालने वाली इसकी विविधता. लेकिन यह भी एक सचाई है कि आज अधिकतर मुसलमान अपने आपको ज़्यादतियों का शिकार हुआ मानते हैं. यह ऐसा एहसास है जिससे उन्हें उबरना चाहिये. पर वे उबरें कैसे? योरोप में तो लगातार उन्हें राक्षस के रूप में चित्रित करने की होड़ लगी हुई है.

पिछले दिनों योरोप के कुछ देशों में की गई अपनी यात्राओं का ज़िक्र करते हुए सरदार कहते हैं कि उन्होंने जर्मनी, बेल्जियम, हॉलैण्ड और फ्रांस के बीच से गुज़रते हुए पाया कि उनमें मुसलमानों के प्रति भयावह घृणा है. अपनी इस यात्रा के बाद उनके मन में यह बात गहराई से जम गई है कि योरोप में फिर से फासीवाद की वापसी हो रही है. वे मानते हैं कि कुछ मुसलमानों की कट्टरता और दिमाग़ी संकीर्णता योरोप में दक्षिणपंथी अतिवाद को बढ़ावा दे रही है. उन्हें आतंकवाद का प्रतीक घोषित कर पूरे मुस्लिम समुदाय पर निशाना साधा जा रहा है. इसलिये योरोप में बसे हुए मुसलमानों के कन्धों पर एक भारी बोझ आ गया है—और वह है योरोपीय इस्लाम को वहाँ के मुसलमानों की अस्मिताओं को बनाये रखते हुए वे एक गतिशील इस्लाम में तब्दील कर डालें और इस काम को वे एक सांस्कृतिक, सामाजिक परियोजना मानते हुए पूरी समझदारी व तार्किकता के साथ संपादित करें. उल्लेखनीय है कि इस्लाम को एक रूप देने और उसे दिशा बोध देने में अल्पसंख्यकों ने हमेशा एक अहम भूमिका निभाई है. हिज्र या स्थान परिवर्तन का विचार इस्लाम का केन्द्रीय भाव है. मुसलमानों का तो कैलेन्डर ही पैग़ंबर मोहम्मद साहब के मक्का से मदीना जाने (हिज्रत) से शुरू होता है. और जब पैग़ंबर मदीना पहुंचे, तब मुसलमान बहुत कम तादाद में ही थे. फिर भी सारे मुस्लिम इतिहास में अल्पसंख्यकों ने केन्द्र का रूपान्तरण करने में महत्त्वपूर्ण काम किया है. समरक़न्द और बुख़ारा जैसे सीमान्त क्षेत्र के विद्वानों और विचारकों ने ही क्लासिकल युग को सूचना समृद्ध कर उसमें बदलाव का माहौल बनाया था. मूरिश स्पेन के महान योगदान के बारे में भी जब विचार करते हैं, तो पाते हैं कि तब भी शेष दुनिया के मुक़ाबले में वे मुस्लिम संस्कृति का निर्माण करने के काम में निश्चय ही बहुत कम संख्या में थे. इसलिये किसी सांस्कृतिक परियोजना को विकसित करने में अल्पसंख्या अनिवार्यतः किसी भी रूप में बाधक नहीं हो सकती. योरोप के मुसलमान इस परियोजना पर काम करने के लिये बहुत अच्छी तरह से सक्षम हैं और अपने प्रयासों से बाक़ी मुस्लिम विश्व को भी बदल सकते हैं. ज़ियाउद्दीन अपनी यही मान्यता हाल में बनी बी.बी.सी. की फ़िल्म 'बैटल फॉर इस्लाम' में भी प्रस्तुत करते हैं.

जहाँ तक इस्लाम और पश्चिम के बीच व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं, बोलने की आज़ादी और समाज में धर्म की भूमिका को लेकर समझ में भिन्नता का सवाल है, ज़ियाउद्दीन को इस तरह की बातें निरर्थक लगती हैं. वे क़तई नहीं मानते कि इस्लाम का इनसे कोई विरोध है. सचाई यह है कि इन दोनों के बीच भेद वर्चस्व को लेकर है. पश्चिमी संस्कृति यह जानती ही नहीं कि मतभेदों को किस तरह सुलझाया जाता है या मतभेद के रहते हुए भी कैसे परस्पर सौहार्द के साथ जिया जा सकता है. पश्चिम इस भिन्नता को अपने उदार मानवतावादी मूल्यों की तरह रखता है. लेकिन वास्तविकता

यह है कि उसने ये मूल्य इस्लाम से ही पाये हैं. यदि योरोप अपनी जड़ों के प्रति वफ़ादार है और उसमें थोड़ी-सी भी ईमानदारी व आत्मसम्मान शेष है तो उसे तर्क करना, संस्कृति और बर्बरतावाद में अन्तर करना और सभ्य समाज के बुनियादी गुणों को पहचानना जैसी बातों को सिखाने के लिये इस्लाम का कृतज्ञ होना चाहिये. इब्ने सिना, इब्ने रश्द, इब्ने ख़ुल्दून और अल बैरूनी जैसे विचारकों ने ही कभी योरोप को मानवतावाद से परिचित करवाया था. वास्तव में ये और इन जैसे दूसरे मुस्लिम विचारक यदि नहीं होते तो योरोप की एक सभ्य विचार के रूप में कल्पना तक करना मुश्किल हो जाता. इसलिये मानवतावाद में ऐसा कुछ नहीं है जो योरोपीय या इस्लाम का ही हो. लेकिन योरोप की अनोखी भूमिका उदार मानवतावाद को एक धूर्त विचारधारा बनाने की रही है, एक ऐसी विचारधारा जो सर्वोत्तम है; क्योंकि उसमें सब विचारधारायें समाहित हो गई हैं. योरोपीय मानवतावाद का यही वह पहलू है जिसने इस्लाम और पश्चिम के बीच ही दरार पैदा नहीं की है, बल्कि पश्चिम और शेष मनुष्य जाति के बीच भी पैदा कर दी है. पश्चिम को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि स्वतंत्रता को अनेक प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है. इसलिये उसकी ही परिभाषा सर्वस्वीकार्य हो, यह संभव नहीं है. इसी तरह आधुनिक बनने के भी अनेक रास्ते हैं और उनके अपने औचित्य भी हैं. दुनिया में केवल एक तरह का ही समाज नहीं है, बल्कि तरह-तरह के समाज हैं. हर एक को अपनी परिभाषा स्वयं निर्मित करने का, अपने भावों के अनुरूप अपनी नियति गढ़ने का अधिकार है.

समस्या यह भी है कि अब जिस जाल में मुसलमान फंस गये हैं, उससे कैसे बाहर निकला जाये. यद्यपि इसमें फंसने की वजह कुछ तो उनका अपना व्यवहार है और कुछ उनके प्रति पश्चिम में तेज़ी से उभरता या उभारा जाता मुस्लिम विरोधी पूर्वाग्रह है. ज़ियाउद्दीन का सुझाव है कि सबसे अच्छा उपाय यह है कि इस्लाम के समसामयिक अर्थों और विशेषताओं का पुनराविष्कार किया जाये. उनके मतानुसार इस्लाम में गंभीर विचार बहुत लम्बे समय से नहीं हुआ है. मुसलमान काफ़ी लम्बे समय से युगों पुरानी व्याख्याओं पर विश्वास करते चले आ रहे हैं और इससे उनका काम अब से पहले तक आसानी से चलता रहा है. लेकिन आज की दुनिया में उन्हें मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा है. आधुनिकता से उन्हें परेशानी हो रही है. विद्वान और विचारक लोग कोई एक सदी पहले से यह सुझाव देते आ रहे हैं कि हमें इस्लाम में आवश्यक सुधार के लिये एक गंभीर प्रयत्न करने की ज़रूरत है और अब वह समय आ गया है. इसमें देर करने के नतीजे हमारे लिये अप्रिय हो सकते हैं. ❑

383, स्कीम नं. 2, लाजपत नगर, अलवर-301001

इल्म से इस्लाम का रिश्ता

डॉ. इक़्तिदार हुसैन फ़ारूक़ी



हज़्रत मौलाना सय्यिद अबुलहसन अली नदवी ने कुछ अर्सा पहले साइंसदानों के एक जल्से को ख़िताब करते हुए फ़र्माया कि–'इस्लाम के पैग़ंबर पर ख़ुदा का जो पहला पैग़ाम आया, वो लफ़्ज़ 'इक़रा' (पढ़ो) से शुरू हुआ. इसका मत्लब ये हुआ कि आग़ाज़ से मुसलमानों के लिये इल्म ज़रूरी क़रार दे दिया गया.' मौलाना ने आगे फ़र्माया कि मज़्हब की तारीख को खंगालने से मा'लूम होता है कि जब भी मज़्हब इल्म से दूर हुआ या उससे ख़ौफ़ज़दा हुआ, तो अंधेरा छा गया. मशहूर इतिहासकार गबन का हवाला देते हुए मौलाना ने कहा कि उसने अपनी एक किताब में इस सचाई को क़बूल किया है कि मध्य युग में यूरोपी चर्च ने इल्म को अपना मुख़ालिफ़ समझा, इसीलिये यूरोप की साइंसी तरक़्क़ी में कई सदियों की देरी हुई, लेकिन इसके बरख़िलाफ़ इस्लाम ने इल्म को ख़तरा न समझा और मुख़्तलिफ़ इल्म व फ़न की तरक़्क़ी में बड़ा रोल अदा किया. उन्होंने ये भी कहा कि रिश्ता जब भी दीन से या रब से टूट जाता है, तो वो तहज़ीबी रोल अदा करता है.

इल्म की ज़रूरत पर रौशनी डालते हुए उर्दू साइंटिफिक सोसायटी के इसी जल्से में मौलाना डॉ. क़ल्ब सादिक़ साहिब ने फ़र्मायाः 'होना तो ये चाहिये था कि आज मुसलमान साइंस और टेक्नोलॉजी में सब से आगे होता, लेकिन अफ़सोस कि ऐसा नहीं है, क्योंकि मुसलमानों ने इस्लामी उसूलों को तर्क कर दिया है और फ़ज़ूल रस्मों को अपना लिया है, वो रस्में जिसे मिटाने के लिये इस्लाम आया था. अगर साइंस और टेक्नोलॉजी मुसलमानों के पास न रही, तो वो 21वीं सदी में बाक़ी न रहेंगे और अगर साइंस बेदीन लोगों के ही हाथ में रही, तो 21वीं सदी में यह दुन्या बाक़ी न रहेगी.'

इल्म और दीन के रिश्ते को लाज़िमी क़रार देते हुए चंद ही दहाइयों पहले मशहूर आलिम हज़्रत शाह अब्दुल क़ादिर रायपुरी ने एक मौक़े पर फ़र्माया था कि

शेष

इस्लाम सिर्फ़ बातों से नहीं क़ाइम हो सकता है. अगर दुन्या के बड़े मुल्कों के साथ खड़ा होना है, तो नये इल्म सीखने होंगे. जब कोई मुल्क अपने पांव पर खड़ा नहीं होता, तो वो न दीन की ख़िदमत कर सकता है और न दुन्या की. उन्होंने इस्लामी दुन्या को मौजूदा तक़ाज़ों से निपटने के लिये मश्वरा भी दिया कि वो अपनी दौलत का सहीह् इस्ते'माल करें. कारख़ाने लगाएं और इंडस्ट्रियां क़ाइम करें.

12वीं सदी के नामवर फ़ल्सफ़ी इब्ने रशद ने कहा था कि इल्म को हासिल करना क़ुर्आन की रू से मुसलमानों पर वाजिब है. तक़रीबन 200 साल बा'द इसी बात को इब्ने ख़ुल्दून ने दोहराया था कि साइंसी फ़िक्र (चिंतन) अस्ल में क़ुर्आनी फ़िक्र ही है. इसीलिये बक़ौल सय्यिद हुसैन नसर, क़ुर्आन की बुन्यादी बातों और अक़ीदों ने इस्लामी कल्चर और साइंसी तहज़ीब की तरक़्क़ी के लिये बुन्याद डाली. (Islamic Science) ये भी दा'वा किया गया कि क़ुर्आनी इल्म इंसान को कट्टर अक़ीदों के बोझ और समाज-मुख़ालिफ़ तज्रिबों से छुटकारा दिलाता है. सय्यिद नसर का दा'वा कितना सच्चा है कि क़ुर्आन ने जब इंसानी तसव्वुरात को झिंझोड़ा, तो वो तमाम रुकावटें; जिन्होंने इंसानों को दबोच रखा था, सब के सब बह गयीं और साइंस, फ़ल्सफ़ा और कल्चर का अस्ल रूप सामने आया.

यूरोप के इतिहासकारों ने जहां एक तरफ़ अपने लोगों को एकजुट करने के लिये मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाने की नापाक कोशिशें कीं, वहीं कुछ इतिहासकारों ने इस्लाम की बुन्यादी बातों की ता'रीफ़ भी की. इसीलिये बराईफ़ाल्ट (Briffault) लिखता है : Science is the momentous most contribution of Islam. इसी तरह जॉर्ज बिंडर (George Binder) इस्लाम के इल्मी रवैये और रिश्ते का ज़िक्र यूं करता है : Vigorous thirst for knowledge followed dramatic rise of Islam during medieval period. (Great moments in medicine) इसी इल्मी रिश्ते की एक मिसाल देते हुए एड्वर्ड ब्राउन (Edward Brown) तहरीर करता है : 'इस्लाम का इल्म से रिश्ता इतना शदीद था और उस इल्म की ज़बान अरबी इतनी आमफ़हम थी कि 14वीं सदी में कोई इल्मी किताब, नया इल्मी कारनामा और उसकी तफ़्सील या नया फ़ल्सफ़ा या नया ख़याल इतनी तेजी से समरक़ंद से ग़रनाता (स्पेन) तक पहुंच जाता था कि आज 20वीं सदी में इतनी तरक़्क़ी के बावजूद मुम्किन नहीं है. (Arabian medicine)

मुहम्मद हुसैन हैकल ने इस्लाम और इल्म के मौज़ू' पर अपने ख़यालात का इज़्हार करते हुए तहरीर किया है कि एक ज़माने में जब चर्च और साइंस के बीच कशमकश चल रही थी, उस वक़्त इस्लामी दुन्या में मज़्हब बिना साइंस को Ungodly समझा जाता था और साइंस बग़ैर मज़्हब के फ़रेब (Delusion) माना जाता था. (Life of Mohammad)

इल्म और क़लम का क़ुर्आनी सबक़ पढ़ कर हज़्रत मुहम्मद स.व. ने इल्म हासिल करने पर ज़ोर दिया और एक ऐसे शिक्षित इस्लामी समाज की दाग़बेल डाली

जिसने सारी दुन्या को नये इल्मों और कलाओं से बाख़बर किया.

यूं तो हज़्रत मुहम्मद स.व. की हदीसों का एक लंबा सिलसिला है, जिसमें इल्म की अहमियत को बताया गया है. लेकिन 'बदर जंग' का वाक़िआ शायद सबसे पहला इशारा है, जब मुसलमानों को इल्म की अहमियत का शिद्दत से एहसास दिलाया गया था. इस जंग में (जो मदीना के पास लड़ी गयी) मक्का के काफ़िरों को ज़बरदस्त शिकस्त का मुंह देखना पड़ा और पचास क़ैदियों को मदीना लाया गया. उनमें से दो को सज़ाएं दी गयीं और बाक़ी 48 क़ैदियों को तावान लेकर रिहा कर दिया गया. उसमें एक तावान ये था कि थोड़ा-सा भी इल्म रखने वाले क़ैदी चंद मुसलमानों को लिखना या पढ़ना सिखा दें और आज़ाद होकर वापस चले जाएं. इंसानी तारीख़ का ये अजीबो-ग़रीब वाक़िआ है जिसकी दूसरी मिसाल नहीं मिलती.

दरहक़ीक़त पैग़ंबरे-इस्लाम की ज़िंदगी में कई वाक़िए ऐसे हुए जिनसे ये साबित होता है कि इस्लाम का शुरू से इल्म से गहरा रिश्ता रहा है. कि पूरी दुन्या में इस्लामी समाज 'इल्मी समाज' समझा जाने लगा और इस्लामी तहज़ीब के मर्कज़ ख़ालिस इल्मी तहज़ीब के मर्कज़ क़रार दिये जाने लगे. इस सिलसिले में कितनी ही हदीसें बयान की जा सकती हैं जिनको इस्लाम के इंक़िलाब का ऐलान कहा जा सकता है. कभी मुहम्मद साहिब ने इल्म हासिल करने के लिये चीन जैसे दूर-दराज़ मुल्क में जाने की नसीहत फ़र्मायी कि जो शख़्स इल्म के लिये सफ़र करता है, वो गोया अल्लाह के रास्ते पर चल रहा है. कभी आपने ये ख़ुशख़बर सुनायी कि जो इल्म का तालिब होता है, अल्लाह उसके लिये जन्नत के दरवाज़े खोल देता है और फ़रिश्ते उसका इस्तिक़बाल करते हैं. आपने अपने एक इर्शाद के ज़रीए हर मुसलमान मर्द व औरत पर इल्म हासिल करना लाज़िमी क़रार दिया. आपने ये भी फ़र्माया कि इल्म हासिल करने के लिये किसी ख़ास उम्र की क़ैद नहीं है, बल्कि पैदाइश से मौत तक का वक़्त इंसान के लिये तालिब इल्मी का दौर है. एक मौक़े पर आपने इर्शाद फ़र्माया कि यूं तो मौत के बा'द इंसान का ता'ल्लुक़ इस दुन्या से ख़त्म हो जाता है, लेकिन अगर किसी ने इंसानी समाज के लिये फ़ाइदामंद इल्म को राइज किया, तो गोया उसका ता'ल्लुक़ रहती दुन्या तक बरक़रार रहेगा.

क़ुर्आन और हदीस की रौशनी में जो रिश्ता मज़्हब और इल्म के दरमियान क़ाइम किया गया था, मुसलमानों ने तक़रीबन एक हज़ार साल तक उस रिश्ते को बनाये रखते हुए दुन्या की इमामत की और इंसानियत की नाक़ाबिले-फ़रामोश ख़िदमत की. लेकिन अफ़सोस! हज़ार साल तक दुन्या को रौशनी देने वाले ख़ुद अंधेरे में चले गये. इल्म को कई हिस्सों में बांट कर किसी को ऊंचा, तो किसी को नीचा समझने की ग़लती कर बैठे. दुन्या के इल्म को 'अक़्ली' और दीन के इल्म को 'रूहानियत' का इल्म समझने लगे. अब उनके काम वैसे ही थे जैसे कि मध्य युग में ईसाइयों ने

अपना रखे थे. दुन्या के कामों में वो क़ाहिल हो गये और इस निकम्मेपन को सब्र का नाम देने लगे. वो भूल गये कि अल्लाह तआला ने फ़र्माया है कि जब किसी काम का इरादा कर लो, तो अल्लाह पर भरोसा रखो (सूरः आले-इमरान) मुसलमानों में इल्म से बेज़ारी का जाइज़ा लेते हुए सय्यिद वक़ार हुसैनी अपने ख़याल का इज़्हार यूं करते हैं कि : 'मुसलमानों ने 18वीं सदी से इल्म को दो हिस्सों में बांट दिया. एक उलूमे-शरीआ और दूसरे उलूमे-अक़्लिया. अक़्ली इल्म में अर्थ-तंत्र और विज्ञान को शामिल करके उसे निचला दरजा दिया गया. वो भूल गये कि क़ुर्आन की रू से अक़्ली उलूम को मा'न्वीयत (Legitimacy) अहमियत और फ़र्ज़ीयत हासिल है. इलावा इसके शरीअत के सारे इल्म भी अक़्ली उलूम ही हैं, क्योंकि उन्हें समझने के लिये अक़्ल की ज़रूरत होती है.' हुसैनी शिकायतन ये भी तहरीर करते हैं कि जब से मुसलमानों ने इस इल्मी रविश को तर्क किया और ग़ज़ाली, इब्ने रशद और इब्ने ख़ुल्दून वग़ैरह की वाज़ेह तहरीरों से मुंह मोड़ा, साइंस उनकी सरज़मीन से मुंह मोड़ गयी और ख़ुद उनका मज़्हब भी पतन की तरफ़ चला गया.

अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के एक जल्से में तक़रीर करते हुए मौलाना क़ल्ब सादिक साहिब ने फ़र्माया कि हमारे उलमा ने दीन और दुन्या की तालीम में फ़र्क़ करने में एक बड़ी ग़लती की है. बहरहाल अब हमारी तवज्जोह तमाम उलूम पर होनी चाहिये.

इस्लाम और इल्म के टूटते हुए रिश्ते पर मातम करते हुए सय्यिद हुसैन नसर कहते हैं : 'आलमे-इस्लाम में साइंस और टेक्नोलॉजी की ज़रख़ेजी 16वीं सदी तक बाक़ी रही. इसका पतन 17वीं और 18वीं सदी में शुरू हुआ, जब गणित और दूसरे तरक़्क़ीयाफ़्ता मज़ामीन को मद्रसों के कोर्स से ख़ारिज कर दिया गया. अब इस्लामी ता'लीम रस्मो-रवायत, पैरवी और वहम वग़ैरह के नातरक़्क़ीपसंदी (obscurantism) तक महदूद रह गयी. (इस्लाम-1976)

19वीं सदी को मुसलमानों के लिये सबसे अंधेरी सदी कहा जा सकता है. चुनांचे जनाब फ़ज़्लुर्रहमान साहिब तहरीर करते हैं कि 19वीं सदी में मुसलमानों ने तरक़्क़ी के इल्मों को छोड़ कर रवायतों, रूहानियत और नातरक़्क़ीपसंद ख़यालात को अपना लिया. (Islam & Modernity) 19वीं सदी में इस्लाम का रिश्ता इल्म से इस हद तक तोड़ दिया गया कि नये इल्मों को 'फ़िरंगी इल्म' का नाम दे कर उस मुहिम की मुख़ालफ़त की गयी जिसमें मुसलमानों को दा'वत दी गयी कि वो पश्चिमी ज्ञान को, शजरे-मम्नूआ (वर्जित पेड़) न समझें और इसे अपने ही भूले हुए इल्म का हिस्सा समझ कर दोबारा हासिल करें.

सर सय्यिद ने एक ऐसी ही मुहिम शुरू की, तो बदक़िस्मती से मुसलमानों के एक तबक़े ने उनको पश्चिमी ज़ेहनीयत का ग़ुलाम क़रार देकर इस्लाम-दुश्मन बताया. नये इल्मों को इसलिये ख़ारिज कर दिया गया, क्योंकि उनकी नज़र में ये ख़ुदा से दूरी

पैदा करते थे. दानिश्वरों की एक इंटरनेशनल कान्फ्रेंस स्टॉकहोम में हुई. उसमें इस्लामी दुन्या के ता'लीमी मसाइल पर ग़ौर किया गया और एक रेज्यूलेशन के ज़रीए इल्म को हासिल करना इस्लामी इबादतों का हिस्सा बताया गया और इस ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया कि सारी इस्लामी दुन्या में नये सिरे से इस्लामी इंक़िलाब पैदा किया जाए.

पिछली तीन दहाइयों में हिंदुस्तान के आलिमों और दानिश्वरों ने जल्सों और मज़्मूनों के ज़रीए मुसलमानों की ता'लीमी और माली पस्ती का जाइज़ा लिया है. तक़रीबन सभी इस बात पर सहमत हैं कि ता'लीम की कमी मुसलमानों की पस्ती की अस्ल वज्ह है. अब वक़्त आ गया है कि मुसलमान इल्मे-जदीदा (आधुनिक ज्ञान) को वर्जित पेड़ न समझें और अपनी तमामतर सलाहियतें इस्ते'माल करते हुए आधुनिक ज्ञान में अपना हिस्सा बंटाएं. कुछ दानिश्वरों का नज़रीया है कि दीनी मद्रसे भी इस मुहिम में नया रोल अदा करें. सय्यिद हामिद साहिब ने अपने एक मज़्मून में इन मद्रसों की अहमियत को माना है और कुछ ठोस मश्वरे दिये हैं. वो लिखते हैं–'ये मद्रसे ता'लीम का अच्छा ज़रीआ हैं, लेकिन इनमें कुछ कमियां भी हैं. इनके कोर्स और तालीम के तरीक़ों में तब्दीली लानी चाहिये. जहां कहीं मुम्किन हो, वहां पेशावराना (vocational) ता'लीम का इंतिज़ाम भी किया जाना चाहिये.'

इस्लाम का इल्म से रिश्ता मज़्बूत करने में हमारे बुजुर्गों ने कई सौ साल तक अनथक मेहनत की, जिसकी बिना पर इस्लामी वक़ार की एक अज़ीम इमारत ता'मीर हुई. ये इमारत हमें वरसे में मिली है, लेकिन हमने इस इमारत को न तो बलंद किया और न ही इसकी हिफ़ाज़त की. हम तो सिर्फ़ घिसी-पिटी रस्मों, नुक़्सानदेह अक़ीदों और फ़ज़ूल वहमों में इतने मशग़ूल रहे कि ये इमारत बोसीदा होकर ढह गयी. अब शायद हमें होश आ चुका है, इसलिये हमारा फ़र्ज़ है कि इसी जगह उन्हीं ख़ुतूत पर, उन्हीं बुन्यादों पर इल्म की इमारत फिर से ता'मीर करें. अगर हम ऐसा कर सके, तो हमारा सर फिर बलंद हो सकेगा और हम इंसानियत की ख़िदमत कर सकेंगे.

एक ग़ैर मुस्लिम दानिश्वर जनाब के.के. जोशी ने मुसलमानों की मौजूदा पस्ती पर रंज का इज़्हार करते हुए निहायत अपनेपन के साथ एक ख़त में लिखा है : The message is loud and clear. Muslim society can regain its old glory and can play a creative role in today's world, if it achieve a fine synthesis between tradition and modernity, between science and religion. The time for Muslims to assert has come. (Pioneer-1995)

जोशी साहिब के मश्वरे का तर्जुमा इक़्बाल के इस एक मिस्रे' से भी किया जा सकता है :

अपनी दुन्या आप पैदा करो अगर ज़िंदों में हो! ❑

(रोज़नामा : सहाफ़त, लखनऊ-2 मई, 2005.
बशुक्रिया: मुहम्मद हसनैन, रीडर सिविल कोर्ट्स, बहराइच–यू.पी.)

हिंदी प्रकाशन : उद्योग के रूप में

जवरीमल्ल पारख

एक उद्योग के रूप में हिंदी प्रकाशन की समस्याओं पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है. कुछ समस्याएं निश्चय ही वे होंगी जो किसी भी भाषा के प्रकाशन उद्योग की हो सकती हैं, तो कुछ समस्याएं हिंदी प्रकाशन की अपनी हैं जिनका संबंध हिंदी के अपने विशिष्ट चरित्र से जोड़कर देखा जा सकता है. यहां मतलब हिंदी भाषा से नहीं बल्कि हिंदी भाषा-भाषियों से है जिनके बिना हिंदी प्रकाशन उद्योग का अस्तित्व संभव नहीं है. हिंदी प्रकाशन के परिप्रेक्ष्य भारत में हिंदी की विशिष्ट प्रकृति से और अंग्रेज़ी के साथ जुड़ चुके उसके भाग्य से जुड़ा हुआ है. हिंदी भाषा-भाषियों की संख्या दुनिया में तीसरे नंबर पर और भारत में पहले नंबर पर है. इसके बावजूद प्रकाशन की दृष्टि से हिंदी भाषा काफ़ी पिछड़ी हुई है. यह सही है कि भारत में सबसे अधिक अख़बार, सबसे अधिक पत्रिकाएं हिंदी में प्रकाशित होती हैं. फ़िल्मों और टेलीविज़न चैनलों पर भी हिंदी का ही साम्राज्य छाया नज़र आता है. इसके बावजूद यह भी एक सच्चाई है कि पुस्तक उद्योग हिंदी भाषी लोगों की संख्या की तुलना में शर्मनाक हद तक कम है. यह कहना तो तथ्यपरक नहीं होगा कि हिंदी में नवीनतम ज्ञान-विज्ञान से संबंधित किताबों का अभाव है. लेकिन यह अवश्य है कि मूल रूप में हिंदी में लिखी ऐसी किताबें प्रायः नहीं हैं. साहित्येतर क्षेत्र में भी अधिक अनुवाद सामाजिक विज्ञान और मानविकी क्षेत्र से हुए हैं. विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आयुर्विज्ञान, कंप्यूटर, प्रबंधन आदि में मौलिक किताबें तो नहीं ही हैं, अच्छी अनूदित पुस्तकें भी प्रायः उपलब्ध नहीं होतीं. कुछ विश्वविद्यालयों में इन अनुशासनों में हिंदी माध्यम से शिक्षा दिए जाने की शुरुआत ने छात्रोपयोगी पुस्तकें ज़रूर उपलब्ध कराई हैं, लेकिन इनका स्तर ऐसीं ही अंग्रेज़ी पुस्तकों की तुलना में प्रायः कमतर पाया गया है. केंद्र और राज्य स्तर पर इन क्षेत्रों में हिंदी लेखन को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न तरह के पुरस्कारों और प्रोत्साहनों के बावजूद स्थिति में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं आया

शेष

है. पुरस्कारों के लिए ऐसी कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं है कि हिंदी में लिखने वाले के लिए वह चुनौती बनकर उपस्थित हो.

मानविकी और सामाजिक विज्ञान से संबंधित अनुशासनों में हिंदी पुस्तकों की स्थिति इतनी बदतर नहीं है. साहित्य से इतर अनुशासनों में मौलिक पुस्तकों का अभाव यहां भी दिखाई देता है. लेकिन इन क्षेत्रों में दूसरी भाषाओं में लिखी हुई विश्व स्तरीय पुस्तकों के हिंदी अनुवाद प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं. अनुवाद के स्तर की दृष्टि से यहां भी काफ़ी असंतोषजनक स्थिति दिखाई देती है, फिर भी स्थिति इतनी बुरी नहीं है.

हिंदी में प्रकाशन उद्योग का विस्तार लगातार हुआ है, लेकिन यह भी सही है कि इस प्रकाशन उद्योग के केंद्र में अब भी साहित्य का प्रकाशन ही है. साहित्य से इतर प्रायः मानविकी और सामाजिक विज्ञान के विषयों ख़ास तौर पर इतिहास, राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षा, मीडिया, दर्शनशास्त्र, कला आदि अनुशासनों में ही हिंदी प्रकाशन ने अपना विस्तार किया है. विज्ञान, प्रौद्योगिकी, स्वास्थ्य, वाणिज्य आदि विषयों में या तो छात्रोपयोगी पुस्तक उद्योग का विस्तार हुआ है या फिर जागरूकता पैदा करने वाले या उपभोक्ता केंद्रित पुस्तकों का प्रकाशन दिखाई देता है. उदाहरण के लिए विभिन्न बीमारियों के उपचार का दावा करने वाली बाबा रामदेव की पुस्तकें घर-घर तक पहुंच गई हैं. कई ऐलोपेथी के डॉक्टरों ने भी विभिन्न बीमारियों से संबंधित लक्षणों और उपचारों के बारे में जनता को शिक्षित करने के लिए हिंदी में पुस्तकें लिखी हैं और ऐसी कुछ पुस्तकें लोकप्रिय भी हुई हैं. लेकिन चिकित्सा विज्ञान से संबंधित कोई भी स्तरीय पुस्तक शायद ही हिंदी में उपलब्ध हो, अनुवाद के रूप में भी नहीं.

अंग्रेज़ी की तुलना में हिंदी प्रकाशन इसमें लगने वाली पूंजी की दृष्टि से भी काफ़ी कमज़ोर है. इस संबंध में एक अनुभव का यहां उल्लेख करना उपयुक्त होगा. जिस विश्वविद्यालय से मेरा संबंध है, उसके लिए प्रकाशकों और वितरकों का पैनल बनाने के लिए जो कसौटी तय की गई, वह यह थी कि उसी प्रकाशक-वितरक को पैनल में शामिल किया जाएगा जिसका प्रतिवर्ष का टर्नओवर कम से कम एक करोड़ रुपया होगा. प्रकाशकों और वितरकों की यह सूची अंग्रेज़ी और हिंदी दोनों के लिए बनाई जानी थी. एक करोड़ की इस सीमा रेखा को पार करने वाले हिंदी के सिर्फ़ दो प्रकाशक थे जबकि अंग्रेज़ी के ऐसे प्रकाशक दर्जनों की संख्या में थे. तब यह तय किया गया कि हिंदी प्रकाशकों के लिए टर्न ओवर घटाकर पचास लाख कर दिया जाए और तब हिंदी के चार प्रकाशकों को सूचीबद्ध किया जा सका. इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उद्योग के रूप में हिंदी प्रकाशन आज कहां खड़ा है!

भाषा विशेष से जुड़े प्रकाशन उद्योग का विस्तार उस भाषा को बोलने वाले लोगों की तादाद से तय नहीं होता, बल्कि इस बात से तय होता है कि उस भाषा-भाषी समुदाय में पुस्तकें पढ़ सकने योग्य शिक्षित लोगों की संख्या कितनी है. इस दृष्टि

से हिंदी भाषाई प्रांत, ज़ाहिर है; काफी पिछड़े हुए हैं. दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्र को छोड़कर प्रायः संपूर्ण हिंदी भाषी क्षेत्र साक्षरता के लिहाज़ से सर्वाधिक पिछड़ा हुआ है. यह पिछड़ापन उसके आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन का परिणाम है. शैक्षिक पिछड़ापन आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन के रूप में भी व्यक्त होता है. नतीजतन हिंदी भाषी क्षेत्र में सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जो विषमता दिखाई देती है उसकी एक पहचान यह भी है कि अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा इस पिछड़ेपन से मुक्ति का प्रतीक बनी हुई है. आर्थिक रूप से थोड़ा भी संपन्न व्यक्ति अपने बच्चों को अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूल में शिक्षा दिलवाता है, क्योंकि उसे मालूम है कि हिंदी माध्यम के सरकारी स्कूलों में आर्थिक रूप से ग़रीब और सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों के बच्चे ही शिक्षा प्राप्त करते हैं. उनके बीच अपने बच्चों को पढ़ाने का मतलब है, उनको वैसा ही पिछड़ा बनाए रखना. यहां तक कि इन स्कूलों में पढ़ाने वाले शिक्षक भी अपने बच्चों को इन स्कूलों में नहीं पढ़ाते, क्योंकि वर्गीय स्तर पर ये अध्यापक भी अपने को अपने छात्रों से अलगाकर देखते हैं. यह वर्गीय विभाजन उन्हें किसी भी तरह के दायित्व बोध से मुक्त कर देता है. शिक्षा का यह विभाजन स्कूल के स्तर पर ही नहीं रहता, बल्कि कॉलेज तक भी विद्यमान रहता है. जिन अनुशासनों में आगे जाकर पुस्तकें हिंदी में उपलब्ध नहीं होतीं, उन विषयों में ऐसे बच्चों को पढ़ने से प्रायः हतोत्साहित किया जाता है जिन्होंने स्कूली शिक्षा हिंदी माध्यम से प्राप्त की है. यह कुचक्र हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन में अवरोध बनकर उपस्थित है.

शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ी की यह उपस्थिति पिछले पांच दशकों में लगातार मज़बूत हुई है. यहां तक कि अब यह मान लिया गया है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में तो अंग्रेज़ी का बरक़रार रहना ही देश के लिए हितकारी है. मध्यवर्ग के बीच बनी इस आम सहमति ने उन युवाओं पर भी असर डाला है जिन्होंने स्कूली शिक्षा भले ही हिंदी माध्यम से ग्रहण की हो, लेकिन जिन्होंने बाद में यह महसूस किया कि अंग्रेज़ी में प्रवीणता उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए अपरिहार्य है. नतीजतन वे भले ही अच्छी अंग्रेज़ी बोल और लिख न पाएं, लेकिन उसे पढ़ने और समझने की क्षमता वे ज़रूर हासिल कर लेते हैं. इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे सभी क्षेत्रों में हिंदी में लिखी हुई पुस्तकों की ज़रूरत उन्हें नहीं रहती. इस तरह हिंदी भाषी क्षेत्रों में उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग का फैलाव हिंदी भाषा के विस्तार में मदद नहीं करता. कुछ हद तक यह स्थिति अन्य भारतीय भाषाओं के बारे में भी लागू होती है.

साहित्य, मानविकी और सामाजिक विज्ञान आदि जिन क्षेत्रों में हिंदी की पुस्तकें आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं, वहां भी पुस्तकें ख़रीदने और पढ़ने वालों की संख्या हिंदी समाज को देखते हुए बहुत कम है. इसके भी बहुत से कारण हैं : आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक. आर्थिक रूप से पिछड़ेपन की वजह से पुस्तकें ख़रीदकर

पढ़ने वालों की संख्या में वृद्धि बहुत ही धीमी गति से हो रही है. कथा साहित्य से इतर अन्य विषय की पुस्तकें कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः बहुत कम बिकती हैं और अधिकांशतः उनकी बिक्री विश्वविद्यालयों और सरकारी संस्थानों की ख़रीद पर निर्भर रहती है. हिंदी में बड़े और छोटे प्रकाशन का भेद यही रह गया है कि कौन इन संस्थानों में ज़्यादा किताबें बेचने में कामयाब हो पाता है. प्रकाशन उद्योग में भ्रष्टाचार के अवसर भी इसी से पैदा हुए हैं.

पुस्तक़ालयों से इतर सीधे ग्राहकों के बीच वे ही पुस्तकें पहुंच पाती हैं जिनका संबंध पाठ्यपुस्तकों से है या जो प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उपयोगी समझी जाती हैं. इस क्षेत्र में भी परीक्षा केंद्रित सस्ती पुस्तकों ने स्तरीय पुस्तकों के लिए मुश्किलें पैदा कर दी हैं. नतीजा यह होता है कि जो पुस्तकें न तो पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं और जो लोकप्रिय विषयों पर भी नहीं हैं, उनकी बिक्री पूरी तरह से पुस्तकालय तक सीमित रहती है और यदि सर्वेक्षण किया जाए तो लाइब्रेरियों में भी ऐसी पुस्तकें सालों बिना पढ़े ही रखी रहती हैं. इसलिए हिंदी में पुस्तकों की बिक्री और ख़रीद ख़ुद इस बात की गारंटी नहीं है कि पुस्तकें पढ़ी भी जा रही हैं.

हिंदी क्षेत्र में रेलवे स्टेशनों, बस अड्डों और अन्य सार्वजनिक स्थलों पर बने बुक स्टालों पर नज़र डालने पर यह आसानी से देखा जा सकता है कि हिंदी में किस तरह की किताबें अधिक पढ़ी जा रही हैं. इनमें प्रेमचंद और शरतचंद्र जैसे लेखकों के उपन्यास भी आसानी से मिल जाते हैं. लेकिन ऐसे सभी स्टाल प्रायः सस्ते और मनोरंजक सामाजिक और जासूसी उपन्यासों से भरे होते हैं. इनके अलावा धर्म, योग, ज्योतिष, हस्तरेखा विज्ञान, विभिन्न तरह की बीमारियों के नुस्ख़े बताने वाली पुस्तकों की भरमार रहती है. किसी भी विषय पर गंभीर और स्तरीय पुस्तकें पढ़ने में रुचि रखने वाले लोगों के लिए प्रायः इन बुक स्टालों पर अख़बार के अलावा कुछ भी नहीं होता. यहां तक कि हंस, कथादेश या अन्य स्तरीय पत्रिकाएं भी इन स्टालों पर प्रायः नहीं मिलतीं. जबकि अंग्रेज़ी की फ्रंटलाइन, आउटलुक जैसी पत्रिकाएं प्रायः मिल जाती हैं. अस्सी के बाद से जबसे उदारीकरण की मुहिम तेज़ हुई है, बड़े प्रकाशन उद्योगों ने प्रायः हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से हाथ खींच लिए हैं. यह अवश्य है कि हिंदी में क्षेत्रीय स्तर पर निकलने वाले अख़बार जैसे जागरण, अमर उजाला, नई दुनिया, दैनिक भास्कर, राजस्थान पत्रिका आदि ने अपनी प्रसारण संख्या ही नहीं बढ़ाई है, बल्कि इनमें से कुछ ने पत्रिकाओं के प्रकाशन के क्षेत्र में भी कदम रखा है. लेकिन देखा यही गया है कि ये अख़बार वैचारिक रूप से काफ़ी पिछड़े हुए हैं. ये प्रकाशन उद्योग राजनीतिक रूप से दक्षिणपंथी और सांप्रदायिक, आर्थिक रूप से निजीकरण और उदारीकरण और सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से रूढ़वादी और प्रतिगामी विचारों के मंच बने हुए हैं. यह इस बात का प्रमाण है कि हिंदी क्षेत्र में शिक्षित और संपन्न लोगों की बढ़ती संख्या के बीच किस तरह के विचारों

का प्रचार-प्रसार हो रहा है. प्रगतिशील और जनोन्मुखी विचार इन प्रकाशन समूहों में प्रायः हाशिए पर ही बने रहते हैं. ऐसे विचारों को लोगों तक पहुंचाने में अब भी उन लघु पत्रिकाओं की बड़ी भूमिका है जिनकी बहुत बड़ी संख्या हिंदी क्षेत्र के विभिन्न शहरों और क़स्बों से अनियमित रूप से निकलती रहती हैं, लेकिन जिनके पढ़ने वालों की संख्या हर कहीं प्रायः बहुत-बहुत कम है.

गंभीर और उत्कृष्ट पुस्तकों के पाठकों की संख्या में बढ़ोतरी की गति धीमी होने के कारण हिंदी प्रकाशन में बड़ी पूंजी का निवेश प्रायः असंभव हो गया है. वैसे तो नेशनल बुक ट्रस्ट, साहित्य अकादमी, राज्य स्तर की विभिन्न अकादमियां हिंदी में स्तरीय किताबों का प्रकाशन करती रहती हैं और वे पाठकों तक पहुंचती भी हैं. मेकमिलन, पेंग्विन आदि विदेशी प्रकाशन संस्थान भी समय-समय पर हिंदी प्रकाशन के क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन वे भी अभी तक इसके मूल चरित्र में किसी तरह का बदलाव लाने में कामयाब नहीं हुए हैं. देखा यही गया है कि ये प्रयत्न जल्द ही थककर समाप्त हो जाते हैं. लेकिन हिंदी समाज की विराटता को देखते हुए ये प्रयास नगण्य से प्रतीत होते हैं. छोटी और सीमित पूंजी के निवेश के कारण हिंदी प्रकाशन का कुल चरित्र निम्नपूंजीवादी ही है. हिंदी प्रकाशन के क्षेत्र का यदि सर्वेक्षण किया जाए तो इस तथ्य को जांचा जा सकता है कि इस क्षेत्र में जो लोग सक्रिय हैं वे या तो छोटे और मझले स्तर के प्रिंटिंग प्रेस चलाने वाले हैं जिन्होंने प्रकाशन संस्थान की स्थापना कर अपने व्यापार का विस्तार किया है या वे अध्यापक-लेखक हैं जो रिटायरमेंट से पूर्व या अपने बच्चों को रोज़गार में लगाने के लिए इस क्षेत्र में आए हैं. हिंदी प्रकाशन के इस विशिष्ट चरित्र का सबसे अधिक ख़मियाज़ा लेखकों को उठाना पड़ता है. कम पूंजी से चलने वाले ये प्रकाशन संस्थान लेखकों को उसका पारिश्रमिक देने के मामले में प्रायः कोताही बरतते हैं. दस फ़ीसद की मामूली-सी रायल्टी देने के एग्रीमेंट पर हस्ताक्षर के बावजूद वे प्रायः वह भी नहीं देते. यदि देते हैं, तो वास्तविक बिक्री से बहुत कम दिखाकर. जब निर्मल वर्मा और महाश्वेता देवी जैसे रचनाकारों के साथ कथित बड़े हिंदी प्रकाशक धोखाधड़ी कर सकते हैं, तो शेष लेखक समुदाय के साथ प्रकाशक क्या करते होंगे, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है.

इस स्थिति से छुटकारा न तो पेंग्विन जैसे विदेशी प्रकाशन संस्थानों के प्रवेश से मिल सकता है और न ही केवल सरकारी संस्थानों के प्रवेश से. इस स्थिति से कुछ हद तक स्वयं लेखकों के सहकारी प्रकाशन संस्थानों द्वारा मुक्ति पाई जा सकती है. बशर्ते कि उन्हें व्यवसाय के बुनियादी नियमों के अनुसार चलाया जाए. इसी तरह रायल्टी आदि मसलों पर बने हुए क़ानूनों की समय-समय पर समीक्षा की जानी चाहिए जिसमें यह शर्त शामिल होनी चाहिए कि हर संस्करण की रायल्टी प्रकाशक लेखक को उसी तरह एडवांस में देगा, जैसे वह काग़ज़, मुद्रण और अन्य कार्यों के लिए देता है.

इसी तरह सरकारों को इस बात के लिए प्रयास करना चाहिए कि हिंदी भाषी क्षेत्रों के सभी विश्वविद्यालय और उच्च शिक्षा संस्थान अपने हिंदी प्रकाशन संस्थान भी चलाएं ताकि साहित्येतर पुस्तकों के स्तरीय प्रकाशनों को संभव बनाया जा सके.

इन सबके बावजूद यह भी सही है कि हिंदी प्रकाशन उद्योग में कोई भी मूलगामी परिवर्तन हिंदी समाज में बदलाव के बिना संभव नहीं है. और ऐसे बदलावों का संबंध इस क्षेत्र में चलने वाली आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से गहरे रूप से जुड़ा है. हिंदी समाज की सामूहिक सोच और उसके असर से इस बदलाव की दिशा और दशा तय होगी. ❑

जे-1, यमुना, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068

किताबों के लिए शुक्रिया

1. गोधूलि बेला (उपन्यास) डॉ. अरुणा श्याम/अमीबा प्रकाशन, 12/3, श्यामपुरी, खतौली/2005/150.00
2. आमुख कथा (उप.) देवेन्द्रसिंह/शैवाल प्रकाशन, डी.आई.जी. आवास के सामने, दाऊदपुर, गोरखपुर/2006/200.00
3. उप-यात्रा (उप.) मो. आरिफ़/राधाकृष्ण प्रकाशन, 7/31, अंसारी रोड़, दर्यागंज, दिल्ली/2006/250.00
4. तिलिस्मी सदा (तरही ग़ज़लें) उर्दू/इम्तियाज़ अहमद 'दानिश'/उर्दू तज़ईने-अदब, खताड़ी मुहल्ला, आरा/2005/50.00
5. शाहिद जमीलः शख़्स और शाइर (उर्दू)/डॉ. मनाज़िर आशिक़/निराली दुन्या पब्लिकेशन्स, 358-ए, बाज़ार देहली गेट, दिल्ली/2005/250.00
6. अंधी सुरंग (उप.-उर्दू) वेद राही/किताबदार, 108/110, जलाल मंज़िल, ग्राउंड फ़्लोर, टेमकार स्ट्रीट, मुम्बई-8/2005/150.00
7. दूर तक सहराओं में (ग़ज़लें) नूरमुहम्मद 'नूर'/मि.जे. पब्लिकेशन, 14 दुर्गादास लेन, प्रथम तल, खिदिरपुर, कोलकाता/2006/85.00
8. मैं चुप रही (शाइरी-उर्दू) कुसुम पाराशर/52 पुराना अशोका गार्डन, भोपाल/2006/100.00
9. अधूरे चेहरे (कथा) दीपक बुदकी/चिनार पब्लिकेशन्स, 7317, मनोरमा विहार, तालाब तिल्लो, जम्मू-तवी/2005/150.00
10. जूठनः एक विमर्श/सं. शिव बाबू मिश्र/शब्द सृष्टि, वी-710/1/गली नं. 10, मौजपुर, दिल्ली/2006/225.00
11. रंगे-हिना (शाइरी-उर्दू) मेहदी अली/ उर्दू मर्कज़ अज़ीमाबाद, पटना/2006/150.00
12. ज़मन-ए-ग़ालिब (विचार) रामनारायण स्वामी 'अन्क़ा'/प्रेमक्रांति वि.वि., दिल्ली/2006/400.00
13. चुप्पियाँ (ग़ज़लें) दिनेश सिंदल/अंशु पब्लिशर्स, डी-2, व्यास नगर, बीकानेर/2006/120.00
14. रस्ते में हो गई शाम (संस्मरण) प्रबोधकुमार गोविल/उद्योग नगर प्रकाशन, 695 न्यूकोट गांव, जी.टी. रोड़, ग़ाज़ियाबाद/2006/100.00
15. साहित्य की सामाजिकता (निबन्ध) मिथलेश्वर/

डॉ. रशीद जहाँ और प्रगतिशील आन्दोलन

प्रो. अली अहमद फ़ातमी


रशीद जहाँ

रशीदजहाँ और प्रगतिशील आन्दोलन एक ही तस्वीर के दो पहलू–कि दोनों को अलग करके देखा नहीं जा सकता, परन्तु यह कहना मुश्किल है कि रशीद जहाँ जो कुछ थीं, उसे प्रगतिशील आन्दोलन ने बनाया, सच यह है कि इस आन्दोलन ने उन्हें एक नया जोश और दृष्टिकोण ज़रूर दिया वर्ना तरक़्क़ीपसन्दी, रौशनख़याली और आज़ादी तो वह अपनी विरासत में, बल्कि ख़ून में लेकर आयी थीं. उनके पिता शैख़ अब्दुल्ला न सिर्फ़ आज़ाद ख़याल, बल्कि औरतों की शिक्षा के बड़े हामी थे. वह औरतों में जागृति लाने के लिए बाक़ाइदा 'ख़ातून' नाम की पत्रिका निकालते थे. अलीगढ़ कॉलेज में औरतों का विभाग खुलवाने का सेहरा भी उन्हीं के सर जाता है. रशीद जहाँ की माँ वहीद जहाँ बेगम जो आला बी के नाम से मशहूर थीं, उन्होंने मदरसे की बुन्याद में अपने पति की बड़ी मदद की. वह भी औरतों की शिक्षा की बड़ी हामी थीं. आला बी के भी बड़े कारनामे हैं, ग़रज़कि रशीद जहाँ का पूरा ख़ानदान, ता'लीम, औरतों की शिक्षा, आज़ादी और रौशनख़याली का बड़ा हामी था. और उसकी हिमायत केवल ज़बानी न थी, बल्कि अमली सतह पर इसके बड़े कारनामे हैं जिसकी अपनी एक अलग तारीख़ है. ऐसे ही माँ-बाप की बड़ी बेटी थीं रशीद जहाँ, जिन्होंने एक बार ख़ुद कहा था, ''हमने तो जब से होश संभाला, हमारा तो तालीमे-निस्वाँ का ओढ़ना है और तालीमे-निस्वाँ का बिछौना.''

शिक्षा बुन्यादी शै ज़रूर है, लेकिन शिक्षा के साथ तर्बीयत और उस तर्बीयत को वक़्त की मांग और ज़माने के तक़ाज़े के साथ मुल्क व मुआशरत और इन्सानियत

के हवाले से एक विज़न और फिर मिशन का रूप दे देना बिल्कुल अलग और ग़ैरमा'मूली बात है. रशीद जहाँ के साथ और भी लड़कियाँ रही होंगी, ख़ुद उनकी बहनें, लेकिन उनमें कोई रशीद जहाँ न बन सकी. यहीं से अकेलेपन, नाफ़र्मानी और सोची-समझी सरकशी व बग़ावत के सिलसिले शुरू होते हैं. आख़िर क्या कारण है कि अभी वह अलीगढ़ में ही थीं और उनकी उम्र चौदह साल की ही थी कि वह बाक़ाइदा मुल्क व क़ौम से दिलचस्पी लेने लगीं और क़ौमी तहरीक से आकर्षित हुईं. गाँधीजी के क़रीब हुईं और बाक़ाइदा खद्दर पहना. इन सब चीज़ों को उस समय और रौशनी मिली जब 1923 में अलीगढ़ छोड़ कर लखनऊ आयीं जहाँ उन्होंने इज़बेला थाबर्न कॉलेज में एडमिशन लिया ताकि वह डॉक्टरी पढ़ सकें. लखनऊ के लगभग खुले माहौल में उन्हें अलग-अलग क़िस्म की किताबों के पढ़ने का शौक़ हुआ जिसमें साहित्यिकता खास विषय था. इसी उम्र और इसी ज़माने में उन्होंने अंग्रेज़ी में एक कहानी 'सलमा' लिखी जो बा'द में उर्दू में भी छपी. 1923 में महज़ अठारह साल की उम्र और प्रगतिशील आन्दोलन से लगभग तेरह साल पहले लिखी गई कहानी में केवल औरत की लाचारी ही नहीं, बल्कि जागृति का एक पैग़ाम था. लखनऊ से निकलकर वह देहली आ गयीं, जहाँ वह 1924 से ले कर 1929 लेडी हार्डिंग मेडिकल कॉलेज की छात्रा रहीं. वह केवल डॉक्टरी की शिक्षा नहीं हासिल कर रही थीं, बल्कि समाज के दूसरे पहलुओं पर भी नज़र रखती थीं. हमीदा सईदुज़्ज़फ़र कहती हैं :

उनका रुज्हान फ़ितरी तौर पर तिब के अमली और समाजी पहलुओं की ओर ज़्यादा था. यह एक मिसाल से वाज़ेह हो जायेगा. वह मेडिकल कॉलेज के चौथे साल की तालबा थीं कि एक नौजवान लड़की अस्पताल के 'शोबए-अमराज़े-चश्म' में दाखिल हुई. दरअस्ल उसकी आँखों में कोई ख़राबी नही थी, लेकिन उसने अपनी आँखों में कुछ ऐसी चीज़ें डाल ली थीं कि जिनके सबब उसे अस्पताल में दाख़िल कर लिया गया था. जल्द ही वह अच्छी हो गयी, लेकिन उसने अस्पताल छोड़ने से इन्कार कर दिया. जब उसे मज्बूर किया गया, तो वह रशीदा के पास आयी और उनसे बताया कि वह किसी तरह घर से भाग कर आयी है और उसका बाप उसे परेशान करता रहता है. अतः उसने तै कर लिया है कि वह अब यहाँ से कहीं और चली जायेगी. उसकी दर्दनाक कहानी सुन कर रशीदा इतना मुतस्सिर हुईं कि फ़ौरन ही शाम की गाड़ी से उसे लेकर अलीगढ़ चली आयीं. यहाँ आला बी ने उसे अपनी निगरानी में रखा. यहाँ तक कि वह अपने पैरों पर खड़ी होने के क़ाबिल हो गयी.

एम.बी.बी.एस. करने के बा'द उन्हें जल्द ही सरकारी नौकरी मिल गयी. और वह कानपुर, बुलन्दशहर होते हुए लखनऊ में तैनात हुईं. सज्जाद ज़हीर उन दिनों शिक्षा

प्राप्ति के लिए लन्दन में रहते थे और छुट्टियों में लखनऊ आये हुए थे, अतः यहीं रशीद जहाँ की मुलाक़ात सज्जाद ज़हीर, सईदुज़्ज़फ़र, अहमद अली आदि से हुई. यह मुलाक़ात 'अँगारे' के संस्करण और उसके बा'द के हादिसात महज़ इत्तिफ़ाक़ात न थे, बल्कि इन सब के पीछे नौजवानों के ज़ेहन में परवरिश पाये हुए वे ख़यालात थे जो बचपन से ही उन्हें इन्सानियत के लिए बेचैन किये हुए थे. रशीद जहाँ का यूँ इतनी जल्दी और निडरपन के साथ 'अँगारे' के ग्रुप में शामिल हो जाना और दो अहम लेखन के ज़रिए उसकी छपाई में शामिल होना सब कुछ अपने आप न था, बल्कि इसके पीछे ख़ुद रशीद जहाँ की अपनी व्यक्तिगत सोच व फ़िक्र, रुज्हान व तर्बीयत काम कर रही थी. इन दोस्तों से मुलाक़ात ने उसे और ज़्यादा बढ़ावा दिया और वह निडर होकर इस आग में कूद पड़ीं. 'अँगारे' के साथ जो हादिसा हुआ और उसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उसकी भी अपनी एक तारीख़ है. लेकिन उसका एक दिलचस्प और अर्थपूर्ण पहलू यह भी है कि सज्जाद ज़हीर, अहमद अली की कहानियों के मुक़ाबले रशीद जहाँ की कहानियों की धार उतनी तेज़ न थी, जितनी कि उन्हें कठिनाई पहुँचाने की कोशिश की गई. रशीद जहाँ अँगारे-वाली के ख़िलाफ़ फ़तवे, फ़ैसले और जान से मार डालने की धमकी आदि-आदि.

ज़ाहिर है, इसके पीछे कमज़ोर व नासमझ लोगों की ख़राब भावना तो काम कर ही रही थी, सदियों के मर्दाना समाज की झूठी शान व शौकत काम कर रही थी और खोखली सामुदायिक संस्कृति का चुरमुराता हुआ निज़ाम भी हिचकियाँ ले रहा था. रशीदजहाँ शुरू से ही इन पहलुओं पर ग़ौर करती आयी थीं. अच्छी शिक्षा, संस्कार और ख़ुद उन की तर्बीयत ने उन्हें बेबाक और निडर बना दिया था. अतः वह इस हादिसे से बिल्कुल न डरीं. बेख़ौफ़ होकर घूमती रहीं. हाजरा बेगम लिखती हैं :

> *'अँगारे' शाए' करते समय ख़ुद सज्जाद ज़हीर को अन्दाज़ा नहीं था कि यह एक नई अदबी राह का संगेमील बन जायेगा. वह ख़ुद तो लन्दन चले गये, लेकिन यहाँ तहलका मच गया. पढ़ने वालों की मुख़ालफ़त इस क़दर बढ़ी कि मस्जिदों में रशीद जहाँ–अँगारे वाली के ख़िलाफ़ वाज़ होने लगे.. फ़तवे दिये जाने लगे और 'अँगारे' ज़ब्त हो गयी. उस वक़्त तो वाक़िई 'अँगारे' ने आग सुलगा दी थी.*

'अँगारे' की छपाई और हँगामा महज़ एक समाजी हादिसा न था. हाजरा बेगम का कहना है :

> *आज 'अँगारे' को पढ़ कर इस तरह ताज्जुब होता है जैसे D.H. Lawrence की किताब Well of Loveliness को पढ़ कर कि किताब ने क़यामत बरपा कर दी थी.*

आख़िर कोई बात तो थी कि एक तरफ़ 'अँगारे' के ख़िलाफ़ आग सुलग रही थी, तो दूसरी ओर बाबाए-उर्दू मौलवी अब्दुल हक़ उस पर प्रशंसनीय टिप्पणी कर रहे थे. मुंशी दयानारायण निगम ने भी 'ज़माना' में प्रशंसनीय टिप्पणी की :

चार नौजवान मुसन्निफ़ों ने, जिनमें एक लेडी डॉक्टर भी हैं, 'अँगारे' नाम से अपने दस क़िस्सों को किताबी सूरत में शाए' किया. इनमें मौजूदा ज़माने की रियाकारियों पर रौशनी डालने, मुरव्विजा रस्म व रिवाज की अन्दरूनी ख़राबियो को बेनक़ाब करने की कोशिश की गई थी. हमारे नाम-निहाद आ'ला तबक़े की रोज़मर्रा मआशरत के नक़ायस का मज़हक़ा उड़ाया गया था. गो इस मज्मूए का तर्ज़ेबयान अक्सर मक़ामात पर सूक़याना था, जो मज़ाक़े-सलीम को खटकता था; लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि नौजवाने-आलम ने दुन्या में जो अलमे-बग़ावत बलन्द कर रखा है, उसी का एक अदना करिश्मा इस किताब की इशाअत है.

'अँगारे' के विरोध में जितना लिखा गया, इसके पक्ष में बहुत कम, लेकिन इसके बावजूद ये कहानियाँ बड़ा काम कर गयीं और उर्दू-कहानी के इतिहास में मील का पत्थर बन गयीं.

'अँगारे' के पब्लिशर सज्जाद ज़हीर थे. जिन्होंने कहा था–'समाजी रज्अत परस्ती और दक़ियानूसियत के ख़िलाफ़ गुस्सा और हैजान का बेबाकाना इज़्हार था.' अहमद अली ने भी अगस्त 1934 के 'साक़ी' में एक लेख में लिखा था :

कुछ अर्सा हुआ जब चन्द लोगों ने उर्दू की ज़िन्दगी में शायद पहली मर्तबा सही मज़्मून में original अफ़साने लिखकर अपने मुल्क की मौजूदा दिमाग़ी, रोमानी, मुआशरती और अख़्लाक़ी ज़िन्दगी की असलियत को पेश किया, तो लोगों ने वो हाय-तौबा मचाई कि कुछ अर्सा तक कान पड़ी आवाज़ तक सुनाई न देती थी, क्योंकि लोगों के कान, आँखें और दिमाग़ झूठ के आदी हो चुके थे. वे हक़ीक़त की इस तेज़ रौशनी को बरदाश्त न कर सके जो आँखों को चकाचौंध कर देती और दिमाग़ को हिला देती है.

प्रोफ़ेसर क़मर रईस ने बड़े अच्छे अन्दाज़ में कहा है :

यह नई नस्ल ज़्यादा सरकश, बेबाक और ख़ुद आगाह थी. मार्क्सिज़्म या इश्तेराकियत ने इसे इन्सानी समाज और उसके मसाइल के इदराक व शुऊर की जो सलाहियत दी थी, उसकी बुन्याद साइंसी और अक़्ली तरीक़ेकार पर थी. हरचन्द कि यह बसीरत जो अभी अपने बिल्कुल इब्तिदाई मर्हले में थी, नौजवानो

के जोश में दबी हुई थी. ताहम वे एक रौशन और वाज़ेह शुऊर की तरफ़ बढ़ रहे थे:

इन तहरीरों की रौशनी में 'अँगारे' की इशाअत और उसकी ऐतिहासिक व साहित्यिक अहमियत का अन्दाज़ा हो जाता है. जैसा कि कहा गया कि इन तहरीरों की गाज सबसे ज़्यादा रशीदजहाँ पर गिरी, लेकिन वह निडर औरत थीं. इन धमकियों और विरोध ने उन की हिम्मत, फ़िक्र व नज़र को और ज़्यादा मज़बूती व बढ़ावा दिया और वह अपनी तमाम मसरूफ़ियत के बावजूद अफ़साने लिखती रहीं और इस तरह उनका पहला संग्रह 'औरत' 1937 में लाहौर से निकला. लेकिन इससे पहले भी बहुत कुछ हो गया. 'अँगारे' के नफ़रत भरे हंगामों के बीच मुहब्बत का फूल खिला. रशीद जहाँ और महमूदुज़्ज़फ़र एक दूसरे के क़रीब आये और 1934 में शादी कर ली.

'औरत' संग्रह में इनकी एक कहानी 'सौदा' है जो बेबाक और ख़तरनाक कहानी है. एक जगह पर इस तरह के वाक्य आते हैं :

"जान! यहाँ बुर्क़ा उतार दो—यहाँ कौन बैठा है?" उन मर्दों में से एक ने कहा, "क्यूं प्यारी, एक बोसा दोगी?" की सख़्त आवाज़ एक अर्सा के बा'द मेरे कानों में आयी. "ए हे हम आये काहे को हैं—तुम लोगे तो हम देंगे." एक बुर्क़ापोश ने जिसकी आवाज़ बिल्कुल बेहिस और मुर्दा थी, जवाब दिया.

इन वाक्यों से उन औरतों की जिन्हें आज की ज़बान में सेक्स वर्कर (Sex worker) कहा जाता है, की तस्वीर सामने आती है. यहां पर उनकी आवाज़ की बेहिसी और मुर्दनी बड़ी अर्थपूर्ण है और साथ ही बुर्क़ा को लाकर पर्दा की जिस ख़ास सभ्यता का मज़ाक़ उड़ाया गया है, उसकी तरफ़ नंगा इशारा है. और कहानी ज़्यादा समझ में भी आती है. इस दौर तक रशीद जहाँ ने इश्तेराकियत को पढ़ ज़रूर लिया था, लेकिन अनुभव फिर भी सीमित था. हाजरा बेगम ने लिखा है कि वह मज़दूर को एक मरीज़ की हैसियत से ज़्यादा जानती थीं, साथ लड़ने वाले दोस्त की तरह नहीं. मार्क्सिज़्म की थ्योरी को उन्होंने ज़रूर पढ़ा था, लेकिन उनको अमलीजामा पहनाने का उन्हें मौक़ा नहीं मिला था. शायद इसीलिये उनकी शुरू की कहानियों में कुछ कमी का एहसास होता है. इस कहानी की नंगी वार्ता इसका उदाहरण है. लेकिन इनकी बा'द की कहानियों में इस कमी का एहसास रुख़्सत होता जाता है और एक ख़ास क़िस्म की दार्शनिक मज़बूती ही नहीं, फ़न्नी चाबुकदस्ती और दृढ़ किरदारसाज़ी नज़र आने लगती है. ये सब यूं ही नहीं होता, जल्द ही फ़िक्र व अमल की वह मंज़िल आती है, जब वह दोबारा सज्जाद ज़हीर और उनके दोस्तों से मिलती है और बाक़ाइदा प्रगतिशील आन्दोलन की बुन्याद रखने में बड़ा और अहम रोल अदा करती है.

सज्जाद ज़हीर शिक्षा पूरी करके इलाहाबाद वापस आ चुके थे, लेकिन इससे पहले लन्दन में ही प्रगतिशील लेखक संघ की बुन्याद डाल चुके थे और इसका मेनीफ़ेस्टो हिन्दुस्तान में अपने ख़ास दोस्तों को भेज चुके थे. महमूदुज़्ज़फ़र और रशीद जहाँ उनके ख़ास दोस्तों में थे. इलाहाबाद में वह फ़िराक़ गोरखपुरी और एजाज़ हुसैन से मिले, मेनीफ़ेस्टो पर बात की और संघ का इरादा ज़ाहिर किया. उन्हीं दिनों इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी एकेडमी ने हिन्दी, उर्दू भाषाओं की एक कांग्रेस बुलाई जिसमें प्रेमचन्द, जोश, अब्दुल हक़, दयानारायण निगम, रशीद जहाँ आदि इलाहाबाद आये. सज्जाद ज़हीर लिखते हैं :

> *रशीद जहाँ अमृतसर से आयी थीं. हम चाहते थे कि इस इज्तिमा के मौक़े पर अदीबों से हमारी गुफ़्तगू और बहसें हों और इनमें वह भी शरीक हों ताकि पंजाब जाकर वह वहाँ के अदीबों से हमारा राबिता क़ाइम कर सकें. अब मुझे याद नहीं कि हम यानी रशीद जहाँ, अहमद अली, फ़िराक़ और मैं इस कान्फ्रेंस में आने वाले अदीबों में से किन-किन से मिले और उनसे क्या-क्या बातें हुईं? लेकिन मुंशी प्रेमचन्द से पहली मुलाक़ात मेरे दिल पर नक़्श है.*

रशीद जहाँ जो सही तौर पर हिन्दुस्तानी एकेडमी की मेहमान थीं, इलाहाबाद पहुंच कर संघ के सम्बन्ध से मेज़बान बन गयीं. इस पूरे क़िस्से का एक दिलचस्प पहलू यह भी है कि अंग्रेज़ी साहित्य के मर्द उस्ताद अहमद अली 'अँगारे' के हंगामे से घबरा कर एकान्त की ज़िन्दगी बसर कर रहे थे और औरत रशीद जहाँ जो 'अँगारे' के हादिसे का सबसे ज़्यादा शिकार हुईं, वह बेख़ौफ़ व निडर होकर आज़ादी से आन्दोलन व संघ के मुआमलात में पेश-पेश थीं. इलाहाबाद से सज्जाद ज़हीर के घर पर मीटिंग में उनका अहम रोल था, ख़ास तौर से मौलवी अब्दुल हक़ को बुलाने में उन्हीं का हाथ था. और मौलवी साहब मेनीफ़ेस्टो पर हस्ताक्षर करने वाले पहले व्यक्ति थे और इन्होंने एक बड़े काम का उपदेश भी दिया था.–'ऐलान शाए' करने, अन्जुमन बनाने और जल्से करने से ज़्यादा ज़रूरी है कि हम उस अदब की तख़्लीक़ के लिये मेहनत करें जो हमारे नज़दीक सही और ज़रूरी है.' प्रेमचन्द, जोश और अब्दुल हक़ के हस्ताक्षर ने पूरे हिन्दुस्तान के अदीबों को संघ के बारे में सोचने पर मजबूर कर दिया. हालात ही कुछ ऐसे थे. वक़्त का मिज़ाज और तेवर भी संघ के हक़ और पक्ष में था.

जनवरी 1936 में सज्जाद ज़हीर पंजाब गये तो रशीद जहाँ और महमूदुज़्ज़फ़र के मेहमान हुए और वहां के साहित्यकारों व शाइरों से मुलाकातें कीं. उन मुलाक़ातों में सब से दिलचस्प मुलाक़ात फ़ैज़ से थी. अतः मुलाक़ात हुई. ख़ामोश, शर्मीले फ़ैज़ उन दिनों एक इश्क़ में मुब्तला थे और इश्क़िया शाइरी में शराबोर थे. एक दिन रशीद जहाँ

ने डांटते हुए कहा, 'यह क्या मामूली से इश्क़ में मुब्तला हो, इन्सानों से प्यार करो.' यह कह कर उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी का मेनीफ़ेस्टो और मार्क्स की किताब थमा दी. फ़ैज़ ने जब उसे पढ़ा, तो फ़ैज़ का कहना है :

यह किताब मैंने पढ़ी, बल्कि दो, तीन बार पढ़ी. इन्सान और फ़ितरत. फ़र्द और मुआशरा, मुआशरा और तबक़ात. तबक़े और ज़राए-पैदावार की क़िस्म, ज़राए-पैदावार और पैदावारी रिश्ते. पैदावारी रिश्ते और मुआशरे का इर्तिक़ा. इन्सानो की दुन्या के पेच-दर-पेच और तह-दर-तह रिश्ते-नाते, क़द्रें, अक़ीदे, फ़िक्र व अमल वग़ैरह-वग़ैरह के बारे में यूं महसूस हुआ कि किसी ने इस पूरे ख़ज़ीनए-असरार की कुंजी थमा दी. यूं सोशलिज़्म और मार्कसिज़्म से अपनी दिलचस्पी की शुरुआत हुई. फिर लेनिन की किताबें पढ़ीं—ये सब कुछ पढ़ कर, सुन कर हमने उस दूसरी तस्वीर में रंग भरने शुरू किये. एक आज़ाद, ग़ैर तबक़ाती मुआशरे की तस्वीर—जहाँ कोई सरमायादार नहीं, कोई जागीरदार नहीं और कोई ज़मींदार नहीं. न कोई आक़ा है, न कोई बन्दा. न कोई तलाशे-मआश मे सरगर्दां. न फ़िक्रे-फ़र्दा में गिरिफ़्तार, जहाँ मज़दूर, किसान राज करते हैं और हर मुआमला उनकी मर्ज़ी से तय पाता है.

फ़ैज़ जो बा'द में प्रगतिशील आन्दोलन के सबसे बड़े और प्रसिद्ध शाइर बन कर उभरे, उनको प्रगतिशील फ़िक्र और आन्दोलन की ओर आकर्षित करने का सेहरा रशीद जहाँ के सर जाता है. बा'द में फ़ैज़, सज्जाद ज़हीर, महमूदुज़्ज़फ़र और रशीद जहाँ लाहौर भी गये और वहां के अदीबों, शाइरों से मिले और देखते-देखते उन नौजवानों की गैर मा'मूली कोशिशों से पंजाब प्रगतिशील अदीबों व शाइरों का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया. 'रौशनाई' में सज्जाद ज़हीर लिखते हैं :

हम ख़ुश और मुत्मईन थे. रशीदा फ़ैज़ को छेड़ रही थीं. अब वह हज़रत भी किसी क़दर पिघले और बोलने-चालने पर रज़ामन्द से मा'लूम हो रहे थे. लेकिन हम में से किसी को यह वहम व गुमान भी नहीं था कि लाहौर की अदब-परवर ज़मीन पर यह वह पहला लग़ज़ीदा क़दम है जो बा'द को उर्दू अदब के सुनहरे ख़ोशों का अम्बार लगा देगा. चन्द साल के अन्दर-अन्दर यहीं से कृष्णचन्दर, फ़ैज़, बेदी, नदीम क़ासिमी, मिर्ज़ा अदीब, ज़हीर काश्मीरी, साहिर लुधियानवी, इब्ने-इन्शा, मख़्मूर जालन्धरी, आरिफ़ अब्दुल मतीन, रहबर, अश्क वग़ैरह जैसे शाइरों और अदीबों ने तरक्क़ीपसन्द अदब के अलम को इतना ऊँचा किया कि उसकी दरख़शाँ बुलन्दियाँ हमारे वतन के दूसरे हिस्सों के अदीबों के लिये क़ाबिले-रश्क बन गयीं.

यह सही है कि यह संघ उस समय बना, जब इसकी आवश्यकता थी; लेकिन यह भी सही है कि अगर इन कुछ नौजवानों ने, जिनमें रशीद जहाँ भी थीं, ग़ैर मा'मूली मेहनत और कमिटमेंट का सुबूत न दिया होता, तो यह पौधा आसानी से बर्ग व बार नहीं ला सकता था. रशीद जहाँ और महमूदुज़्ज़फ़र के लिये सज्जाद ज़हीर लिखते हैं :

इन दोनों ने अपनी ज़िन्दगी का मक़्सद जैसे अपनी ज़ात को भुला कर इन्सानियत को बना लिया था जिसे फ़ारिग़ुलबाली या ख़ानगी इत्मीनान कहते हैं, वे उनकी क़िस्मत में नहीं थे. आयंदा जो ज़माना आने वाला था, वह महमूद के लिये क़ैद व बन्द, मेहनत व मशक़्क़त और क़ौमी कामों के सिलसिले में फ़िक्र व तरद्दुद का ज़माना था. रशीदा के लिये तवील तनहाइयों, माली मुश्किलात और जिस्मानी कुल्फ़त का. मगर वह अमृतसर हो या देहरादून या लखनऊ जब भी उनके घर जाओ, तो महसूस होता था कि ख़ुशी वहाँ तैर रही है. ऐसी ख़ुशी जो दो दिलों के मेल और दो दिमाग़ों की हम आहंगी से शफ़्फ़ाफ़ ठंडे पानी के चश्मे की तरह फूट निकलती है और जो दूसरी अफ़सुर्दा या ग़मगीन रूहों को भी सैराब करके उनमें तरन्नुम और बालीदगी पैदा कर देती है.

इन तमाम दिक़्क़तों और कैफ़ीयतों के बावजूद रशीद जहाँ ने लखनऊ की पहली और ऐतिहासिक कांफ़्रेंस के एहतिमाम में बड़ा रोल अदा किया. कान्फ़्रेंस का एहतिमाम अपने आप में मुश्किल और पेचीदा काम होता है. और उस समय जब मुल्क व समाज अलग-अलग धारों और ग़लतफ़हमियों में घिरे हों. तहरीके-आज़ादी ज़ोर-शोर से आगे तो बढ़ रही थी, लेकिन नॉन कॉपरेशन और ख़िलाफ़त की तहरीकें, दहशतपसन्द नौजवानों की इंक़िलाबी तहरीक, हिन्दू व मुस्लिम फ़सादात ने फ़ज़ा में ज़हर और अंग्रेज़ी हुकूमत को मज़बूत कर रखा था. ऐसे में किसी नई तहरीक का क़ाइम होना बेहद मुश्किल काम था. उर्दू अदब में यूं भी एक ख़याल आम था कि शाइर को तो बस शाइरी करना चाहिये. सियासत, जलसे, जुलूस आदि से दूर रहना चाहिये. सज्जाद ज़हीर ने लिखा है :

शुरू-शुरू में प्रेमचन्द का यही ख़याल था और ग़ालिबन मौलवी अब्दुल हक़ साहब भी यूँ ही सोचते थे, लेकिन हालात और वाक़िआत ने हमें उन ख़यालात में तरमीम करने पर मजबूर किया. 1935 से '36 के क़रीब का ज़माना हमारे मुल्क के नौजवान दानिश्वरों के लिये बहुत बड़ी ज़ेह्नी छान-बीन, खोज, तब्दीलियों और ज़िन्दगी की नई राहों के दरयाफ़्त करने का ज़माना था.

इन हालात में न सिर्फ़ कांफ़्रेंस करना और प्रेमचन्द को अध्यक्षता के लिये तैयार करना, कई भाषाओं के बड़े-बड़े अदीबों का सम्मिलित होना अपने आप में ग़ैर मा'मूली

बात तो थी ही–एक इतिहास लिखा जा रहा था और इस इतिहास को लिखे जाने में रशीद जहाँ का क़लम और क़दम दोनों काम कर रहे थे. वह लखनऊ गयीं. हाजरा बेगम के साथ मिलकर टिकट बेचती रहीं. चौधरी मुहम्मद रूदौलवी को अध्यक्ष, स्वागत कमेटी बनने पर इन्होंने ही मजबूर किया. एक सेवक की तरह वह कांफ्रेंस के इंतिज़ाम देखती रहीं. कांफ्रेंस कामयाब हुई और ख़ूब कामयाब हुई. प्रेमचन्द का ख़ुतबा, प्रेमचन्द की नज़दीकी, प्रेमचन्द का व्यक्तित्व–इन सबने नौजवानों और ख़ासकर रशीद जहाँ को बेहद आकर्षित किया. कांफ्रेंस के बा'द वह उनसे बहुत क़रीब और बेतकल्लुफ़ हो गयीं. प्रेमचन्द की मौत से उन पर गहरा असर हुआ. उन्होंने एक उम्दा लेख भी लिखा, जिसमें एक जगह लिखती हैं :

> *मुझे मुंशी प्रेमचन्द से मिलने का शौक़ था. बचपन से उनके नाम से वाक़फ़ियत थी. प्रेमचन्द इतना बड़ा मुसन्निफ़. हमारी कान्फ्रेंस का सद्र. हमारी ख़ुशी की कोई इन्तिहा न थी. प्रेमचन्द के आर्ट में एक बेमिसाल चीज़-ज़माने की तब्दीलियो का असर था. बूढ़ी-काकी, सुब्हे-अकबर, बाज़ारे-हुस्न लिखने का एक वक़्त था. ज़माना बदला. कांग्रेस आयी. पोलिटिकल जिद्दोजहद और कशमकश के जो नक़्शे प्रेमचन्द के यहाँ मिलते हैं, वोह किसी के हाँ नहीं. आजकल के जवानों में पिछले दस साल के जवानों से फ़र्क़ है. उसी तरह अगर आज प्रेमचन्द होते, तो उनके अफ़साने भी ज़माने के साथ बदलते रहते–हम लोग उनकी मौत से इतने ग़मग़ीन हैं, तो उनके देरीना इल्मी और शख़्सी दोस्तों और अज़ीज़ों के ग़म का अन्दाज़ा लगाना मुश्किल है. एक बड़ा और अच्छा मुसन्निफ़ मर गया. लाजवाब और बेमिसाल शख़्सियत भी मुसन्निफ़ के साथ चली गयी.*

कांफ्रेंस के बा'द वह देहरादून चली गयीं, जहां वह अदीब कम, सियासी कारकुन ज़्यादा बन गयीं. उनकी ज़िन्दगी कई भागों में बंटी थी. अदीब, डॉक्टर और सियासी कारकुन. इन सब को मिलाकर और उसे इश्तेराकियत में ढाल कर उन्होंने बहुत काम किये. समाजी और अमली काम तो किये ही. लखनऊ में रहने के दौरान उन्होंने अफ़साने और ड्रामे भी लिखे. यह ज़माना उनकी रचनाओं की ऊँचाई का ज़माना था.

इसी ज़माने में उन्होंने चोर, वह, आसिफ़जहाँ की बहू, छिद्दा की माँ, इफ़तारी, मुजरिम कौन, मर्द-औरत, सिफ़र जैसी उम्दा कहानियां लिखीं और कुछ बहुत अच्छे ड्रामे. अब इन कहानियों में पहले वाली जज़्बातियत व जानिबदारियत न थी, बल्कि मज़बूती व ताज़गी थी और हक़ीक़त थी. 'सौदा' जैसी शुरू की कहानियों में नक़ाब पहने मर्दों के बीच घिरी औरत अब गहरे समाजी शुऊर के हवाले से 'वह' का रूप ले चुकी थी. और ड्रामा 'औरत' की हिरोइन तो अपने मौलवी शौहर से तेवर के साथ कहती है–"ज़रा संभल कर मैं कहती हूं, बैठ जाओ, अगर अपनी इज़्ज़त की ख़ैर

चाहते हो, अगर इस बार तुमने हाथ उठाया तो मैं ज़िम्मेदार नहीं." इन कहानियों और ड्रामों को पढ़िये, तो एकतरफ़ा ग़म व गुस्सा या एहतिजाज नहीं उभरता, बल्कि पूरे समाजी निज़ाम के हवाले से मर्द और औरत के रिश्ते, अमीर और ग़रीब के बीच की दीवार, भूख-प्यास और ज़िन्दगी की वह क़द्रें जहाँ इंसानियत दम तोड़ रही है, तभी तो कहानी 'इफ़तारी' में नसीमा का नन्हा बच्चा असलम उससे पूछता है :

"माँ दोज़ख़ क्या होती है?"

"दोज़ख़-! दोज़ख़, वह तुम्हारे सामने ही तो है."

"कहाँ-?"

"वह नीचे, जहां अन्धा फ़क़ीर खड़ा है. जहां वह जुलाहे रहते हैं और जहां वह अंग्रेज़ रहता है और लोहार भी."

दोज़ख़ की आग दरअस्ल भूख की आग है.

ड्रामा 'काँटे वाला' के यह डायलॉग देखिये :

"सांस लेना बग़ावत है, तो मैं पूछता हूँ; फिर मौत क्या है? यह सब भूख को दबाने के बहाने हैं, लेकिन भूख दबती नहीं. गला दबाने से चीख़ बन्द नहीं हो जाती, बल्कि और दुगुनी हो जाती है. भूखे की चीख़. मरते हुए की चीख़-ज़िंदा आदमियों से ज़्यादा भयानक है."

अब उनकी कहानियों और ड्रामों में ख़राबिये-निज़ाम को बदलने और एक नये अवामी निज़ाम को बनाने की इच्छा दिखाई देती है. कहानी 'सिफ़र' (जिसके केन्द्रीय पात्र के बारे में यह ख़याल आम है कि वह सज्जाद ज़हीर का किरदार है) में इस फ़ल्सफ़े को बड़ें सलीक़े से कहानी की सूरत में पेश किया है. बेचैनी, संघर्ष, भूख-प्यास, ख़राबी, नाबराबरी, ग़म व गुस्सा, इश्क़ व मुहब्बत, किन्तु जीवन का कोई भी तरीक़ा व फ़ल्सफ़ा रशीद जहाँ की कहानियों में बड़ी सादगी और आम बोलचाल की ज़बान से उभर कर आकर्षक और अर्थपूर्ण अन्दाज़ में पढ़ने वाले के दिल में जगह बना लेता है. 'चोर', 'वह' ऐसी कहानियां हैं, जिनके केन्द्रीय पात्र मुद्दतों दिमाग़ में सवार रहते हैं.

रशीद जहाँ ने कहानियां कम ही लिखीं, लेकिन इन कम कहानियों में भी विषय, पात्र, भाषा की रंगारंगी, फैलाव, संजीदगी और गहराई के ख़ूब-ख़ूब नमूने देखने को मिलते हैं. फ़िक्र व ख़याल, कल्पना व ध्यान के दिलचस्प करिश्मे, समझने और समझाने के अर्थपूर्ण तज्रबे, इंसानी ज़िन्दगी के बिगड़े हुए और गन्दे चेहरे, बदलते रिश्ते, बदलते हुए मर्द और औरत दिखाई देते हुए मिलेंगे. और जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ किसी क़िस्म की सड़ांध काम कर रही है, इस हक़ीक़त से भरी तस्वीरें दिखाई देती नज़र आयेंगी. जिन पर रशीद जहाँ का साइंसी ज्ञान, दृष्टिकोण और उनके व्यक्तित्व की ख़ास जुर्रत का एक दिलकश रंग व रोग़न चढ़ा हुआ नज़र आयेगा.

शेष

यह एक सच्चाई है कि रशीद जहाँ औरत थीं और इनकी कहानियों का केन्द्र बिन्दु भी औरत ही है. लेकिन इस सिलसिले में उनका बड़ा कारनामा यह है कि उन्होंने सब से पहले अपने आप को पुराने क़िस्म की औरतों की लाइन से अपने आप को अलग किया. हद यह है कि अपने से सीनियर औरत–कहानीकारों की लाइन में खड़ा रहना भी पसन्द नहीं किया, क्योंकि उनकी तान अधिकतर औरत की जायज़ और नाजायज़ हिमायत और उनकी ग़ैर मा'मूली बेगुनाही और बेबसी पर टूटती है. जहाँ औरत सिर्फ़ बेगुनाह है और बेक़ुसूर है. लेकिन रशीद जहाँ ने सबसे पहले अपनी आँखों से बेकार की हिमायत का पर्दा हटाया और हक़ीक़त की ऐनक लगाई और पूरी ईमानदारी और सच्चाई से उनको देखा, परखा और पूरे इंसाफ़ और एतिदाल के साथ उन पर क़लम उठाया. सिर्फ़ उनके पक्ष में ही नहीं, बल्कि उनके विरोध में भी. प्रोफ़ेसर कमर रईस का ख़याल है कि–

> *तरक़्क़ीपसंद अदीबों में प्रेमचन्द के बा'द रशीद जहाँ तन्हा थीं, जिन्होंने उर्दू अफ़सानों में समाजी और इंक़िलाबी हक़ीक़त निगारी की रवायत को मुस्तहकम बनाने की सई की.*

उर्दू में पहली बार एक इंक़िलाबी और साइंसी ज़ेह्न रखने वाली ख़ातून ने ज़िन्दगी को उस तारीख़ी और माद्दी अवामिल के तनाज़ुर में देखा, इसलिये उनकी नज़र उन पहलुओं पर गई जिन पर न सिर्फ़ मर्द, बल्कि ख़ातून अफ़सानानिगारों की रसाई भी नहीं हो सकती थी.

इतनी कम मुद्दत में रशीद जहाँ का यह ज़ेह्नी व फ़ितरी विकास मार्क्सिज़्म के पढ़ने और प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़ाव से ही मुम्किन था. उन्होंने कम लिखा, लेकिन ऐसा लिखा कि आने वाली नस्ल या ख़ासकर औरतों की नस्ल ग़ैर मा'मूली तौर पर आकर्षित हुई. ऐसे निडर और यादगार कारनामों के कारण वह औरतों की शिक्षा और आज़ादी का चिह्न बन गयीं. हाजरा बेगम लिखती हैं :

> *रशीद जहाँ का कारनामा यह है कि उन्होंने अपनी चन्द कहानियों से अपने बा'द लिखने वाली बीसियों लड़कियों और औरतों के दिमाग़ों को मुतास्सिर किया. इस्मत चुग़ताई, रज़िया सज्जाद ज़हीर, सिद्दीक़ा बेगम और न जाने कितनी मुसन्निफ़ा थीं, जिन्होंने रशीद जहाँ के अफ़सानों, रशीद जहाँ की ज़िन्दगी और मसहूरकुन शख़्सियत को मशाले-राह समझा और अपनी तहरीर से उर्दू अदब को नई बुलन्दियों पर पहुँचाया.*

इस्मत चुग़ताई के इन वाक्यों को भी पढ़िये :

ग़ौर से अपनी कहानियों के बारे में सोचती हूँ, तो मा'लूम होता है कि मैंने सिर्फ़ उनकी (रशीद जहाँ) बेबाकी और साफ़गोई को गिरिफ़्त में लिया है. उनकी भरपूर समाजी शख़्सियत मेरे क़ाबू न आयी. मुझे रोती-बिसूरती, हराम के बच्चे जनती, मातम करती हुई निस्वानियत से हमेशा नफ़रत थी. ख़ामख़ाह की वफ़ा और जुमला ख़ूबियाँ जो मशरिकी औरत का ज़ेवर समझी जाती थीं, मुझे ला'नत मालूम होती है. जज़्बातियत से मुझे हमेशा कोफ़्त रही है. इश्क़ में महबूब की जान को लागू हो जाना, ख़ुदकुशी करना और वावेला करना मेरे मज़हब मे जायज़ नहीं. यह सब मैंने रशीदा आपा से सिखा है. और मुझे यक़ीन है कि रशीदा आपा जैसी लड़कियाँ सौ लड़कियों पर भारी पड़ सकती हैं.

सच यह है कि अगर रशीद जहाँ न होतीं, तो प्रगतिशील आन्दोलन की आधी दुन्या अधूरी रह जाती और एक बड़ा इंसानी गोशा अंधेरे में रह जाता. रशीद जहाँ ने अपने छोटे-से कारनामों से सही, उस अंधेरे गोशों को रौशन किया. आज अफ़सानवी अदब के आस्मान पर ज़किया मुशहदी, निगार अज़ीम, तरन्नुम रियाज़, सर्वत ख़ान, ग़ज़ाल ज़ैग़म जैसी कहानीकार औरतें जगमगा रही हैं. कहीं न कहीं इन सब पर रशीद जहाँ का एहसास और एहसान है. आज जो निसाइयत अर्थात् औरतपन और स्त्री संघर्ष का जो आन्दोलन सर उठा रहा है, उसमें भी रशीद जहाँ का ख़ून-पसीना काम कर रहा है. ❑

229-ए, लूकड़गंज, इलाहाबाद-211001



नासिर काज़मी (1925-1972) और पहली बारिश

डॉ. ख़्वाजा मुहम्मद ज़करिया

20वीं सदी उर्दू अदब में बुन्यादी तौर पर नज़्म की सदी है. गरचे ता'दाद के एतिबार से ग़ज़लगो शुअरा नज़्मनिगारों से कम नहीं, मगर मै'यार के लिहाज़ से नज़्मगो शुअरा की ख़ासी ता'दाद ऐसी है जो अपने काम की इन्फ़रादियत (अद्वितीयता) के सबब अदब की तारीख़ में एक नुमायां मक़ाम बना चुकी है. इक़्बाल जोश, हफ़ीज़ जालंधरी, अख़्तर शेरानी, ज़फ़रअलीख़ां, फ़ैज़, राशिद, मीराजी, मजीद अमजद और मुनीर नियाज़ी उर्दू नज़्म की तारीख़ में जो अहमियत रखते हैं, वो रौशन है. हसरत, अस्ग़र, फ़ानी, यगाना, फ़िराक़, जिगर, अदम या नासिर काज़मी ग़ज़ल के अहम नाम हैं, मगर तारीख़े-अदब में उन्हें उन नज़्मनिगारों का हमपल्ला क़रार देने में उमूमन नाक़िदों को हिचक होती है. नासिर काज़मी पाकिस्तान बनने के बाद उभरने वाले ग़ज़लगो शुअरा में इतनी नुमायां हैसियत इख़्तिार कर गया है कि दूसरे ग़ज़लनिगार महज़ मुक़ाबले में शामिल होने वालों (Also ran) के ज़ुमरे में शुमार किये जाते हैं. हालांकि इस राय में पूरी सचाई मौजूद नहीं है, फिर भी चालू तन्क़ीदी राय यही है.

नासिर काज़मी यक़ीनन एक उम्दा ग़ज़लगो था. उसके मर्तबे को उसकी ज़िंदगी ही में पहचाना गया. उसे अदबी महफ़िलों, मुशाअरों, तन्क़ीदी जाइज़ों, मुबाहसों और रेस्टोरानों की गुफ़्तगुओं में अहमियत दी गयी. आ'ला दरजे की तख्लीक़ात के साथ-साथ ये अहमियत उसके बाअसर दोस्तों और साथियों की बदौलत भी थी. नासिर काज़मी के दोस्तों में रिसालों के एडिटर, आलोचक, जनर्लिस्ट, दानिश्वर, रेडियो और टी.वी. के बाहैसियत लोग, सियासी लीडर, अदीब, शाइर सभी शामिल थे, जिन्होंने शुरू ही से उसके जौहर को पहचाना, उसकी हौसला अफ़ज़ाई की, उसके बारे में लिखा और यूं नासिर काज़मी को अदब की दुन्या में ख़ूब तआरुफ़ करवाया. बाक़ी काम उसकी शाइरी ने किया, जो लोगों को ख़ुद मुतवज्जेह कर लेती थी. इस तरह

नासिर काज़मी को रफ़्ता-रफ़्ता पाकिस्तान के ग़ज़लनिगारों में नुमायांतरीन मक़ाम हासिल हो गया.

उसका पहला मज्मूअ-ए-ग़ज़लीयात 'बर्गे-नै' 1954 में छपा और दूसरा मज्मूआ 'दीवान' 1972 में शाए' हुआ. तीसरा मज्मूआ 'पहली बारिश' उसकी वफ़ात के तीन साल बा'द 1975 में पहली मर्तबा सामने आया. अगरचे उसकी दस ग़ज़लें 'नया दौर', कराची के दो शुमारों या'नी 33-34 और 35-36 में इससे पहले शाए' हो चुकी थीं. जदीद ग़ज़लें एक ही ज़मीन में थीं. इस बात की शहादत मौजूद है कि नासिर ये मज्मूआ वफ़ात से पहले तर्तीब दे चुके थे, मगर उन्होंने इस काम को आख़िरी शक्ल कब दी? इस बारे में क़तई तौर से कुछ नहीं कहा जा सकता. बासिर सुल्तान काज़मी (बेटा) 'पहली बारिश' की तीसरी इशाअत की भूमिका में लिखते हैं :

> *...अपनी वफ़ात से कुछ अर्सा पहले जब पापा ने अपना कलाम इकट्ठा करके तर्तीब देना शुरू किया तो मैंने देखा कि एक डायरी के पहले सफ़्हे पर 'पहली बारिश' बड़े हुरूफ़ में लिखा हुआ था और अगले वरक़ों में वैसी ही हमज़मीन ग़ज़लें. पापा ये ग़ज़लें एक पुरानी डायरी (जो मेरे पास अब भी महफ़ूज़ है) से नक़्ल कर रहे थे.*

बासिर काज़मी के इस बयान से 'पहली बारिश' के सन् का पता नहीं चलता. 'नया दौर', कराची के शुमारों पर शाए' होने का साल दर्ज करने का रिवाज नहीं है. सिर्फ़ शुमारों के नंबर लिखे जाते हैं, इसलिये शुमारा नंबर 33-34 और 35-36 के सन् का अंदाज़ा भी अंदरूनी शहादतों की बिना पर करना पड़ता है. शुमारा 33-34 में रिसाला 'जामिआ', दिल्ली पर अबुल ख़ैर कशफ़ी का तब्सिरा छपा है, जिसमें कहा गया है कि किसी साहिब ने पिछले शुमारे में 1962 की पाकिस्तानी किताबों का जाइज़ा लिया है. इसके इलावा 'वफ़यात' 1962 के नाम भी दर्ज हैं, इसलिये यक़ीन की हदों तक ले जाने वाला क़यास ये कहता है कि 'नया दौर' के वो शुमारे 1963 के हैं. इससे ये क़यास भी किया जा सकता है कि 'पहली बारिश' का कुछ हिस्सा नासिर काज़मी ने 1961-62 के क़रीब लिखा था. चंद ग़ज़लों में पूर्वी पाकिस्तान के सफ़र के तास्सुरात मौजूद हैं. ये सफ़र नासिर काज़मी ने बहुत-से दीगर पश्चिमी पाकिस्तानी अदीबों के साथ किया था. इस सिलसिले में ए. हमीद लिखते हैं :

> *पाक जुम्हूरीयत ट्रेन के सिलसिले में ईस्ट पाकिस्तान जाना हुआ...हमारी पाक जुम्हूरीयत रेलगाड़ी ने हमें सारे ईस्ट पाकिस्तान में फिराया. हर बड़े शहर मे जल्से हुए, मुशाअरे हुए. गुलशन सिनेमा में बड़ा ज़बरदस्त ऑल पाकिस्तान मुशाअरा हुआ. नासिर काज़मी का नाम पुकारा गया, तो वो ग़ाइब था. मैंने देखा कि वो उंगलियों में सिगरेट सुलगाये, हाथ मुंह के पास रखे, सिनेमा के*

बरामदे की तरफ़ चला जा रहा है...मैं नासिर काज़मी को पकड़ कर, बल्कि उठा कर स्टेज पर ले गया और वो स्टेज? (शायद मुशाअरा) लूट कर ले गया. (ए. हमीद—संग दोस्त, सफ़्हा : 482)

'हिज्र की रात का सितारा' में इंतिज़ार हुसैन ने लिखा है :

नासिर कहीं 1959 में राइटर्स गिल्ड के एक अदबी डेलीगेशन के साथ मश्रिक़ी पाकिस्तान गया था. (सफ़्हा : 49)

मगर ए. हमीद ने अपनी डायरी से मदद लेकर टेलीफ़ोन पर मुझे बताया कि ये सफ़र 1960 में पेश आया था. शायद नासिर ने शुरू में ईस्ट पाकिस्तान के सफ़र के चंद तास्सुरात इन दस ग़ज़लों की शक्ल में लिखे. ये अनजाने में 'पहली बारिश' का आग़ाज़ था. 1961 के क़रीब उन्हें मुहब्बत का एक तज्रिबा हुआ, तो उन्होंने इसी ज़मीन में कुछ और ग़ज़लें कहीं. फिर उन्हें ग़ालिबन ये ख़याल आया होगा कि ये ग़ज़लें जमा हो सकती हैं और तज्रिबे के मुख़्तलिफ़ पहलुओं को ज़ाहिर कर सकती हैं, इसलिये उन्होंने शुऊरी तौर पर इस ज़मीन के इम्कानात और इसमें इज़्हार की सहूलियात पर ग़ौर करना शुरू कर दिया होगा. इस तरह वफ़ात से कुछ अर्सा पहले वो तमाम ग़ज़लें जमा करके और मुनासिब तर्तीब देकर एक मज्मूआ तैयार कर चुके होंगे. यही मज्मूआ है जो बक़ौल बासिर काज़मी वफ़ात से कुछ अर्सा पहले वो एक पुरानी डायरी से नक़्ल कर रहे थे.

हो सकता है कि 'पहली बारिश' का आग़ाज़ 1960 ही में हो चुका हो, लेकिन फ़िलहाल इस बारे में यक़ीनी तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता. यकीन से सिर्फ़ ये बात कही जा सकती है कि 1960 से 1961 के दरमियान इस सिलसिले की ग़ज़लों का आग़ाज़ हो गया था. यहां तक कि रफ़्ता-रफ़्ता ग़ज़लों की ता'दाद बढ़ती रही. नासिर के दूसरे मज्मूए 'दीवान' का मुतालआ भी 'पहली बारिश' के सिलसिले में कारआमद हो सकता है. 'दीवान' की कुछ ग़ज़लों पर सन् भी दर्ज हैं. 'बर्गेने' और 'दीवान' की कुछ शुरूआती ग़ज़लों से मा'लूम होता है कि नासिर काज़मी को नौजवानी में मुहब्बत का एक तज्रिबा हुआ, मगर कुछ अर्से बा'द जब जज़्बे की शिद्दत कम हो गयी, तो उनके दिल में एक और तज्रिब-ए-मुहब्बत की ख़्वाहिश पैदा हुई. 'दीवान' में ऐसे अश्आर बार-बार आते हैं, जिनमें किसी को चाहे जाने की ख़्वाहिश का इज़्हार होता है :

ये क्या कि एक तौर से गुज़रे तमाम उम्र
जी चाहता है अब कोई तेरे सिवा भी हो

कपड़े बदल-बदल कर, बाल बना कर, कहां चले हो, किस के लिये
रात बहुत काली है 'नासिर', घर में रहो तो बेहतर है

ज़ाहिर है कि जिस के लिये कपड़े तब्दील किये और बाल बनाये, उसका वुजूद ख़याली है, वर्ना काली रात के बावजूद घर नहीं बैठा जा सका. इसका मुक़ाबला 1962 के इस शे'र से कीजिये जो 'दीवान' में दर्ज है जिसमें कपड़े बदल कर और बाल बना कर, को कुछ बदल करके जज़्बे की शिद्दत के साथ लिखा गया है. ये शे'र आगे आएगा :

अब जी में है कि सर किसी पत्थर से फोड़िये
मुम्किन है क़ल्बे-संग से निकले कोई परी (पत्थर का दिल)

बेकार बैठे रहने से बेहतर है कोई दिन
तस्वीर खींचिये किसी मौजे-ख़याल की
यूं तो हर शख़्स अकेला है भरी दुन्या में
फिर भी हर दिल के मुक़द्दर में नहीं तनहाई
यूं तो मिलने को वो हर रोज़ ही मिलता है मगर
देख कर आज उसे आंख बहुत ललचाई
पहले खिल जाए दिल का कंवल फिर लिखेंगे ग़ज़ल
कोई दम ए सरीरे-क़लम! सब्र कर, सब्र कर (लिखते वक़्त की आवाज़)
दर्द के तार मिलने तो दे, होंट हिलने तो दे
सारी बातें करेंगे रक़म सब्र कर, सब्र कर (लिखना)

मैं हूं एक शाइर बेनवा मुझे कौन चाहे मिरे सिवा
मैं अमीरे-शाम-ओ-अजम नहीं, मैं कबीरे-कूफ़ा वरे नहीं (सीरिया-ईरान)

ए फ़लक भेज कोई बर्क़े-ख़याल कुछ तो शबे-हिज्रां चमके (1952)
फिर कोई दिल को दिखाए 'नासिर' काश ये घर किसी उन्वान चमके (1952)

दिल की हवेली पर मुद्दत से ख़ामोशी का क़ुफ़्ल पड़ा है (ताला)
क्या ख़बर कौन-सी ख़ुशी के लिए दिल यूं ही गंवाए जाता है

शौक़ ये था कि मुहब्बत में जलेंगे चुपचाप
रंज ये है कि तमाशा न दिखाया कोई (1957)

पुराने तज्रिब-ए-मुहब्बत की यादें भी ज़ियादातर ग़ज़लों में मौजूद हैं, मगर साफ़ नज़र आता है कि उसकी शिद्दत बहुत कम हो चुकी है :

फिर सावन रुत की पवन चली तुम याद आए फिर पत्तों की पाज़ेब बजी तुम याद आए
दिन भर तो मैं दुन्या के धंधों में खोया रहा जब दीवारों से धूप ढली तुम याद आए
रोना आता है हमें भी लेकिन इसमें तौहीने-वफ़ा होती है (1953)
अब तो ख़ुश हो जाएं अर्बाबे-हवस जैसे वो थे हम भी वैसे हो गए (1960) (लालची)

कहां अब वो मौसम रंगो-बू कि रगों में बोल उठे लहू
यूं ही नागवार चुभन-सी है कि जो शामिले-रगो-पे नहीं
ज़िंदगी भर वफ़ा हमीं से हुई
सच है यारो, ख़ता हमीं से हुई
तू जहां एक बार आया था
एक मुद्दत से है वो घर ख़ामोश (1957)
वा'दा या रुकी बात न छेड़ो
ये धोका भी खा रखा है (1959)

भूल भी जाओ बीती बातें इन बातों में क्या रखा है

इन अश्आर में इश्क़ के एक गुज़रे हुए तज्रिबे की यादें हैं, मगर उनमें शिद्दत बरक़रार नहीं रही. अब ज़ियादः से जियादः इन यादों को राख में छुपी हुई चिंगारियों से तशबीयः दी जा सकती है. जब इंसान दिन भर दुन्या के धंधों में खोया रहे और महबूब याद न आये, जब मुहब्बत को नागवार चुभन क़रार दिया जाये, जब हिज्र की शब आराम से कट जाये और कोई याद ही न आये, तो इसमें कोई शुब्ह नहीं रहना चाहिये कि जज़्बा बहुत धीमा पड़ चुका है. लेकिन जब 1961 और 1962 की ग़ज़लों को पढ़ा जाये, तो एक ताज़ा तज्रिबा अपनी पूरी शिद्दत के साथ लहरें लेता हुआ नज़र आता है :

आज देखा है तुझ को देर के बाद आज का दिन गुज़र न जाए कहीं
आर्ज़ू है कि तू यहां आए और फिर उम्र भर न जाए कहीं
आओ कुछ देर रो ही लें 'नासिर' फिर ये दर्या उतर न जाए कहीं

दुख की लहर ने छेड़ा होगा यार ने कंकर फेंका होगा
मैं तो आज बहुत रोया हूं तू भी शायद रोया होगा (1962)

आज तो जैसे सारी दुन्या हम दोनों को देख रही है
ख़ैर तुझे तो जाना ही था जान भी तेरे साथ चली है (1962)

सारी रात जगाती है बीते लम्हों की झांझन
होंटों पर बरसों की प्यास आंखों में कोसों की थकन
पहली बारिश मैं और तू ज़र्द पहाड़ों का दामन (1962)

ये ग़ज़ल इस लिहाज़ से भी अहम है कि इसमें 'पहली बारिश' की तर्कीब मौजूद है. इसके इलावा इसकी इमेजरी 'पहली बारिश' के कई अश्आर हैरतअंगेज़ मुमासलत (समानता) रखते हैं. इसी तरह आगे दर्ज ग़ज़ल के कुछ अश्आर भी 'पहली बारिश' के कुछ अश्आर का अक्स मा'लूम होते हैं :

तू ने जितना प्यार किया था दुख भी मुझे उतना ही दिया था
ये तिरी मंज़िल वो मिरा रस्ता तेरा मेरा साथ ही क्या है
मैंने तो इक बात कही थी क्या तू सचमुच रूठ गया है ('62)

तेरी मज्बूरियां दुरुस्त मगर तू ने वा'दा किया था याद तो कर
तू जहां चंद रोज़ ठहरा था याद करता है तुझ को आज वो घर (1962)

नये कपड़े पहन कर जाऊं कहां और बाल बनाऊं किस के लिये
वो शख़्स तो शहर ही छोड़ गया मैं बाहर जाऊं किस के लिये (1962)

जबीं पे धूप-सी, आंखों में कुछ हया-सी है
तू अजनबी है मगर शक्ल आशना-सी है
जहां में यूं तो किसे चैन है मगर प्यारे
ये तेरे फूल से चेहरे पे क्यों उदासी है (1962)

यहां तक कि 1963 में लिखी हुई ये मशहूर ग़ज़ल भी यही असर लिये हुए है :

गये दिनों का सुराग़ लेकर किधर से आया किधर गया वो
अजीब मानूस अजनबी था मुझे तो हैरान कर गया वो

इस ग़ज़ल में चंद अश्आर ऐसे हैं जिनमें नासिर काज़मी ने ख़्वाब में अपनी मौत देखी है. बाक़ी अश्आर इसी अजनबी और शाइर के ता'ल्लुक़ का क़िस्सा बयान कर रहे हैं :

बस एक मोती-सी छब दिखा कर बस एक मीठी-सी धुन सुना कर
सितारा शाम बन के आया बरंगे-ख़्वाबे-सहर गया वो
वो जिस के शाने पे हाथ रख कर सफ़र किया तू ने मंज़िलों का
तिरी गली से न जाने क्यों आज सर झुकाये गुज़र गया वो

इन ग़ज़लों के कई जज़्बाती नुक़ूश और इमेज़री के कई कण 'पहली बारिश' के अश्आर में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं. इससे भी यही नतीजा निकलता है कि 'पहली बारिश' का ख़ाका नासिर काज़मी के ज़ेहन में उन्हीं दिनों तैयार हुआ था, जब वो 1961 से 1962 की ग़ज़लें कह रहे थे. दूसरे लफ़्ज़ों में उनके दूसरे इश्क़ का ये तज्रिबा 1961 में शुरू हो गया था और 1962 तक आते-आते ये भी पहले तज्रिबे की तरह 'जुदाई' पर ख़त्म हुआ. इसलिये बा'द में ये दोनों तज्रिबे मिल-जुल कर नासिर की वफ़ात तक उनकी कई ग़ज़लों में दोहराये जाते रहे. 'पहली बारिश' और 'दीवान' की कुछ ग़ज़लों का मुख़्तसर जाइज़ा ये है :

दीवान

लाल खजूरों ने पहने ज़र्द बगूलों के कंगन
होंटों पर बरसों की प्यास आंखों में कोसों की थकन
पहली बारिश मैं और तू ज़र्द पहाड़ों का दामन
प्यासी झील और दो चेहरे दो चेहरे और इक दरपन
मैं तो आज बहुत रोया हूं तू भी शायद रोया होगा
ख़ैर तुझे तो जाना ही था जान भी तेरे साथ चली है
ये तिरी मंज़िल, वो मिरा रस्ता तेरा मेरा साथ ही क्या है

पहली बारिश

लाल खजूरों की छतरी सब्ज़ कबूतर बोल रहा था
तेरे होंट भी ख़ुश्क हुए थे मैं तो ख़ैर बहुत प्यासा था
याद आयी वो पहली बारिश जब तुझे एक नज़र देखा था
मैं इस जानिब तू उस जानिब बीच में पत्थर का दर्या था
भूली नहीं वो शामे-जुदाई मैं उस सेज़ बहुत रोया था
तुझ को जाना ही था लेकिन मिले बग़ैर ही क्या जाना था

अब तक जो कुछ लिखा गया है, उससे ये नतीजे सामने आये हैं कि नासिर काज़मी को नौजवानी में मुहब्बत का एक तज्रिबा हुआ था. कुछ गवाहियों की बिना पर (जिनकी तफ़्सील यहां ग़ैर ज़रूरी है) ये कहा जा सकता है कि ये वाक़िआ तक़्सीम से पहले का है. 'बर्गे-ने' में इस वाक़िए की यादों की झिलमिल दिखायी देती है. 'दीवान' की जो ग़ज़लें 1960 तक लिखी गयी हैं, उनमें इश्क़ की शिद्दत ख़त्म होकर महज़ नाउम्मीदी की सूरत इख़्तियार कर लेती है. ग़ैर इरादी तौर पर नासिर किसी नये तज्रिबे का ख़्वाहिशमंद दिखायी देता है और 1961 में उसे एक नया इश्क़िया तज्रिबा होता है, जो 1962 तक शिद्दत से जारी रहता है और जल्द ही 'जुदाई' तक पहुंचता है और फिर पहले तज्रिबे की तरह यादों की कसक में तब्दील हो जाता है और यही ज़माना है जब 'पहली बारिश' के ग़ज़लिया-सिलसिले का बहुत-सा हिस्सा लिखा जा चुका है. 'दीवान' में इश्क़ का तज्रिबा ग़ज़ल की मज्बूरियों की वज्ह से टुकड़ों में बंटा हुआ नज़र आता है, मगर 'पहली बारिश' में उसे शुऊरी सत्ह पर जमा करके पेश करने की कोशिश की गयी है. दस ग़ज़लें 'नया दौर' कराची के दो शुमारों में शाए' हुई थीं. किताब में शामिल करते वक़्त नौ अश्आर की एक ग़ज़ल हटा दी गयी जिसका मतला' ये है :

जादू था, सपना था क्या था मैंने तुझ में क्या देखा था

'नया दौर' में छपने वाली ग़ज़लों में से सिर्फ़ एक ग़ज़ल 'पहली बारिश' में किसी तब्दीली के बग़ैर शामिल की गयी है, जो यूं शुरू होती है :

तेरा क़ुसूर नहीं मेरा था   मैंने तुझ को अपना समझा था

ख़ूबसूरत दियारों के सफ़र से वापसी पर महबूब के शह्र का ज़िक्र करते हुएं एक शे'र यूं लिखा गया है :

गर्द ने ख़ेमा तान लिया था   धूप का शीशा धुंधला-सा था

फिर कहानी के अंजाम के क़रीब आशिक़ जब महबूब के नगर में पहुंचता है और मायूस होता है तो वहां एक शे'र ये है :

गूंगे टीलो! कुछ तो बोलो   कौन इस नगरी का राजा था

अब सवाल ये है कि सख़्त गर्मी, रेत, गर्द, टीले, खजूरें वग़ैरह तो इस पूरी बेल्ट में नज़र आती हैं, लेकिन क्या हम इससे किसी एक शह्र को पहचान सकते हैं, जिसे महबूब की नगरी क़रार दिया जा सके. इस सिलसिले में एक शे'र कुछ मदद कर सकता है :

देख कर तेरे देस की रचना   मैंने सफ़र मौक़ूफ़ किया था (स्थगित)

'रचना' का लफ़्ज़ दस्तकारी और नक़्क़ाशी वग़ैरह यानी हैंडीक्राफ़्ट के मा'नों में भी इस्ते'माल होता है. झंग या मुज़फ़्फ़रगढ़ हैंडीक्राफ़्ट के इलाक़े नहीं हैं. तरजीहन 'रचना' या हैंडी क्राफ़्ट के लिये मुल्तान मशहूर है. इस बात की शहादत मौजूद है कि नासिर काज़मी कई दफ़ा मुल्तान गया. उसने कुछ बार वहां के मुशाअरों में शिरकत की. इसके इलावा वो लोगों को बताया करता था कि मुल्तान में कुछ लोगों के पास नायाब कबूतर हैं और मैं कबूतरों का शैदाई होने की वज्ह से मुल्तान जाता हूं. शुह्रत बुख़ारी अपनी आत्म-कथा 'खोये हुओं की जुस्तजू' में लिखते हैं :

> *मुझे मा'लूम है वो अचानक ग़ाइब हो जाता था, कहीं दिखायी नहीं देता था...कोई इस बात का जवाब नहीं दे सकता था कि नासिर काज़मी का क्या हाल है? आजकल वो कहां है? और फिर किसी दिन अचानक कॉलेज में आ जाता था या फिर किसी शाम घर का दरवाज़ा खटखटाता था और मा'लूम होता किसी मुशाअरे में गया था. वहां से किसी और मुशाअरे में चला गया. फिर मुल्तान चला गया कि किसी ने आ'ला नस्ल के कबूतर दिखाने और पेश करने की दा'वत दी थी. (सफ़्हा : 239)*

मुख़्तसर ये कि 'पहली बारिश' की कई अलामतें और तस्वीरें इशारा करती हैं कि महबूब का देस मुल्तान है या इसका कोई नज़दीकी इलाक़ा.

ग़ज़ल नंबर 18 में महबूब के शहर के स्टेशन पर उसके एक हमशक्ल का उसी डिब्बे में शाइर के सामने आकर बैठ जाना और महबूब के साथ उसकी मुशाबहत (एकरूपता) ...उमूमन हमारे यहां रेल में ज़नाना और मर्दाना डिब्बे अलग होते हैं. और ग़ज़ल नंबर 20 और 21 में महबूब का आशिक़ को जल्दी से स्टेशन पर अलविदा कह कर अपने हमराहियों के साथ रुख़्सत हो जाना :

तेरे साथ तिरे हमराही   मेरे साथ मिरा रस्ता था

अब यूं तो बेशक कोई कहे कि एक ख़ातून अपनी हमराहियों के साथ आशिक़ को रुख़्सत करने गयी थी, लेकिन पाकिस्तान में ऐसा मुम्किन है? और अगर वो पेशेवर ख़ातून थी, तो हमराहियों के साथ जाना बिल्कुल ही नामुम्किन है. इसलिये इन तमाम उलझनों से बचने का एक आसान हल है और वो ये कि महबूब एक नौजवान है और उम्र की उस मंज़िल में है, जहां वो किसी मर्द से दोस्ती कर सकता है और मर्द के घर वाले और नौजवान के घर वालों में से किसी को उनके एक दूसरे के घर ठहरने, सफ़र करने और इकट्ठे हो जाने पर एतिराज़ नहीं हो सकता.

बासिर काज़मी 'पहली बारिश' की भूमिका में एक जगह लिखते हैं :

...अपनी वफ़ात से कुछ अर्सा पहले जब पापा ने अपना कलाम इकट्ठा करके तर्तीब देना शुरू किया, तो मैंने देखा कि एक डायरी के पहले सफ़्हे पर बड़े हुरुफ़ में 'पहली बारिश' लिखा हुआ था और अगले पन्नों में वैसी ही हमज़मीन ग़ज़लें. पापा ये ग़ज़लें एक पुरानी डायरी (जो मेरे पास अब भी महफ़ूज़ है) से नक़्ल कर रहे थे. इस पुरानी डायरी में ये ग़ज़लें ज्यों की त्यों इसी तरह लिखी हुई थीं जैसे मैं रिसाले में पढ़ चुका था, मगर अब कई अश्आर क़लमज़द या तब्दील किये जा चुके थे. कुछ नये शे'रों का इज़ाफ़ा कर दिया गया था और दो तीन ग़ज़लें ख़ारिज कर दी गयी थीं. अब मुझे महसूस हुआ कि ये मज्मूआ ग़ज़लों के उन मज्मूओं से मुख़्तलिफ़ था जिनसे मेरी आशनाई थी. मैंने पापा से कहा कि वो इसे छपवा क्यों नहीं देते, तो उनका जवाब सिर्फ़ इतना था : 'अभी लोग इसके लिये तैयार नहीं हैं.'

नासिर काज़मी के मज्मूए 'निशाते-ख़्वाब' में एक नज़्म बउन्वान 'नया सफ़र' मौजूद है. इससे नासिर की फ़न्नी महारत का पता चलता है :

कल रात उस परी की उरूसी का जश्न था
देखी थी मैंने दूर से बस उसकी रौशनी
हर मुल्क, हर दियार के ख़ुशवज़्अ मेहमां
बैठे थे ज़ेबेतन किये मल्बूस रौशनी

हाथों में रंगतरे लिये सर पर सुराहियां
कच्ची निकोर बांदियां निकलीं बनीठनी
किशमिश, छुआरे, काग़ज़ी बादाम, चार मग़्ज़
रखे थे रंग-रंग के मेवे चशीदनी
मुर्ग़ाबियां तली हुईं, तीतर भुने हुए
ख़स्ता कबाब सीख़ के और नान रौग़नी
संदल, कंवल, सुहाग पड़ा, सेहरा, इत्र-फूल
लाई सजा के ताली में इक शोख़ कामिनी

साज़ों की गत पलट गयी, तबले ठुनक गए
पीकर शराब नाच रही थी वो कंचिनी
अंगारा-सा बदन जो दमकता था बार-बार
गुल मुंह पे ढांप लेते थे किरनों की ओढ़नी
हर दांग बाजने लगे बाजे निशात के
मृदंग, ढोल, तानपूरा, संख संखिनी
आकाश से बरस पड़े रंगों के आबशार
नीले, सियाह, सफ़ेद, हरे, लाल, जामुनी

नासिर काज़मी की ज़िंदगी में भी मुहब्बत का ये तज्रिबा क़रीब-क़रीब बीस बरस के वक़्फ़े से दोबारा आया था और जिस तरह पहली बारिश के साथ मौसम ख़ुशगवार हो जाता है और ज़मीन तख़्लीक़ के लिये तैयार हो जाती है, उसी तरह नासिर की ज़िंदगी में भी ये तज्रिबा ताज़ा तख़्लीक़ी वलवला लेकर आया था, पर मुहब्बत की रंगीनी का ज़माना मुख़्तसर साबित हुआ और जल्द ही तनहाई और जुदाई की घुटन ने उसे घेर लिया.

नासिर काज़मी पर एक इल्ज़ाम ये भी था कि वो लड़कों को पसंद करते थे, लेकिन कुछ लोग इसकी तरदीद करते थे कि अगर नासिर काज़मी का महबूब मर्द होता, तो वो कभी भी अपने महबूब की इस तरह ता'रीफ़ नहीं करता. अप्रैल, 1995 में नासिर काज़मी के बेटे हसन सुल्तान काज़मी ने 'नासिर काज़मी की डायरी' शाए की थी. उसमें नासिर की होमो सेक्सुएलटी का सुबूत मौजूद था. बहरहाल दो बातें तयशुदा हैं : (1) पहली बारिश ग़ज़ल के फ़ॉर्म में लिखी हुई एक सिलसिलेवार कहानी है. (2) नासिर काज़मी को ज़िंदगीभर मस्नवी (एक विधा) लिखने की ख़्वाहिश रही, मगर न लिख सके. ❑

(तिमाही ज़ेहने-जदीद, पी.बी. 9789, जामिआ नगर, नई दिल्ली-25
शुमारा : 41, मार्च 05 से अगस्त 05)

नयी दुन्या का मुसाफ़िर

सलीम अहमद

ये उस ज़माने की बात है जब कराची के कुछ लोगों ने जिनमें नासिर (काज़मी) के कुछ दोस्त भी शामिल थे, कहना शुरू कर दिया था कि नासिर काज़मी शाइर की हैसियत से मर चुका है. इत्तिफ़ाक़ से उन्हीं दिनों नासिर क़ाज़मी कराची आ गये और कई रोज़ तक मुख़्तलिफ़ हलक़ों में घूमते-फिरते रहे. एक रात तक़रीबन ढाई बजे तक हम लोग कराची एयरपोर्ट की रौशनियां देखने और नासिर क़ाज़मी की झिलमिलाती हुई ग़ज़लों को सुनने में मस्रूफ़ रहे. फिर नासिर मेरे साथ घर आ गये. उस पर उस वक़्त न जाने क्यों एक अजीब-सी कैफ़ीयत थी. वो थोड़ी-थोड़ी देर के बा'द कुछ चुप-से हो जाते. यकायक उन्होंने बिल्कुल ही ख़िलाफ़े-तवक़्क़ो' मुझ से एक सवाल कर दिया–'सलीम! क्या मैंने कोई अच्छा मिस्रा' कहा है?' मैं चौंक पड़ा. 'तुम्हारा इस सवाल से क्या मत्लब है?' नासिर को मैंने कभी जज़्बाती होते नहीं देखा था. लेकिन उस वक़्त उन पर एक कैफ़ीयत-सी तारी थी–'सलीम! अगर मुझे से शे'र नहीं हो रहा है, तो क्या लोग मुझे ये सोच कर मुआफ़ नहीं कर सकते कि शायद मैं फिर कभी कोई अच्छा मिस्रा' कह सकूंगा.' नासिर को शायद अपने दोस्तों की मुहिम की भनक पड़ गयी थी. वो पूरी रात हम दोनों ने ये सोचते हुए गुज़ारी कि सच्चे शाइर की एक पहचान ये भी है कि कभी-कभी वो शे'र बिल्कुल नहीं कह सकता या कहता भी है तो बुरा. जो लोग हमेशा एक से अंदाज़ में अच्छे शे'र लिखते रहते हैं, उनकी शाइराना शख़्सियत में कोई न कोई खोट ज़रूर होता है.

नासिर जैसे शाइर में शे'र कहने का मौक़ा सिर्फ़ ज़ाती मस्अला नहीं होता. ऐसा शाइर तो शख़्स से ज़ियादः एक बेरोमीटर होता है. वो शे'र नहीं कहता, तो इसका मत्लब सिर्फ़ ये नहीं होता कि उसकी ज़ाती सलाहियत में कमी आ गयी. ये भी होगा, मगर इसके साथ ही वो हमें कुछ और भी बता देता है. नासिर की शाइरी का बेहतरीन

दौर 1950 से शुरू होकर बारह-चौदह साल के अर्से में ख़त्म हो जाता है. उस ज़माने में उन्होंने बेहतरीन ग़ज़लें कहीं. नक़्क़ादों को मुतास्सिर किया और आम पढ़े-लिखों में मक़्बूलीयत हासिल की. इसके बा'द का दौर या तो उतरी हुई शाइरी का दौर है या फिर नयी राहों की तलाश का. शख़्सी सत्ह पर ये सवाल भी पैदा होता है कि इस इम्कान के ख़त्म होने में दूसरी चीज़ों का कितना दख़्ल था? पता नहीं, मैं अपना सवाल वाज़ेह भी कर सका हूं या नहीं? बहरहाल नासिर क़ाज़मी की शाइरी के साथ क़दम-ब-क़दम चलते हुए शायद हम किसी वाज़ेह सवाल तक पहुंच जाएं.

नासिर की शाइरी और हिज्रत (विस्थापन) की वारदात हमारे शुऊर (चेतना) पर एक साथ वारिद हुई, बल्कि नासिर ही ने हमें हिज्रत के अल्मीया (ट्रेजेडी) को महसूस करना सिखाया. हिज्रत के मा'नी सिर्फ़ एक सरज़मीन को छोड़ना नहीं था. ये सदियों के इंसानी रिश्तों को छोड़ने और एक बिल्कुल नयी सूरते-हाल में नये सिरे से ज़िंदगी शुरू करने का मस्अला था. नासिर अपनी शाइरी के इब्तिदाई दौर में जो कुछ लोगों के नज़दीक उनकी शाइरी का बेहतरीन दौर भी था, हमें ये एहसास दिलाते हैं कि माज़ी की ज़िंदगी अपने सारे हुस्न के साथ जल कर राख हो गयी है और हमें ज़िंदा रहना है, तो इस राख-ढेर से नयी ज़िंदगी पैदा करना पड़ेगी.

नासिर को माज़ी की ज़िंदगी अज़ीज़ थी. उसने जलते हुए शहरों और सुलगती हुई बस्तियों का बहुत सोग मनाया. मगर इसके साथ ही ये नासिर ही था जो शाख़ों पर जले हुए बसेरों में एक नयी फ़स्ले-गुल का सुराग़ ढूंढ़ रहा था. बा'द में नासिर के यहां जले हुए बसेरों की वारदात उसकी फ़ितरतनिगारी के तज्रिबे में एक नयी सूरत इख़्तियार कर लेती है. नासिर के यहां फ़ितरत का एहसास किसी तहरीक का हिस्सा नहीं है. वो फ़ितरत की तरफ़ इसलिये नहीं गया कि वुडवर्थ की रवायत है या कर्नल बालराइड साहब फ़र्माते हैं. फ़ितरत की तरफ़ वो इसलिये गया कि हिज्रत की एक मा'नवी जिह्त (धारा) फ़ितरत से दूरी भी है. नयी ज़िंदगी, जिसका तज्रिबा नासिर को हिज्रत के बा'द हुआ, शह्र की ज़िंदगी थी, जिसमें नासिर के कबूतरों, फ़ाख़्ताओं और जुगनुओं की कोई गुंजाइश न थी. ये शह्र नासिर को बहुत भारी पड़ा. शाइर की हैसियत से भी और इंसान की हैसियत से भी. मैं नासिर की फ़ितरतनिगारी से बहुत ख़ुश नहीं हूं, क्योंकि उर्दू ग़ज़ल की इस रवायत में जिसके बग़ैर नासिर का तसव्वुर नहीं किया जा सकता, फ़ितरत इंसानी ता'ल्लुक़ात के एक हाशिये के तौर पर आयी है. लेकिन इसमें फ़ितरत का अपनी जगह कोई मक़ाम नहीं है. यहां तक कि फ़िराक़ के यहां भी फ़ितरत का एहसास उस शुऊरी या नीम शुऊरी कोशिश का नतीजा है कि ग़ज़ल में हिंदू तहज़ीब को भी शामिल किया जाये. बहरहाल नासिर के यहां फ़ितरतनिगारी की कोशिश कुछ जगह हल्की होने के बावजूद कहीं-कहीं ख़ूबसूरत और असरदार भी है. और नासिर के उस तज्रिबे का हिस्सा है जिसके ज़रीए वो नयी ज़िंदगी के मुख़्तलिफ़ पहलुओं

को देखने और समझने की कोशिश कर रहा था. कहीं से नासिर क़ाज़मी की शाइरी में उस उन्सुर (तत्व) का इज़ाफ़ा हुआ जिसे डॉ. वज़ीर आग़ा ने 'यादें' का नाम दिया है. इन यादों के ज़रीए नासिर अपनी और समाज की नयी और पुरानी ज़िंदगी को आमने-सामने रख कर देखता है. हिज्रत के बा'द नासिर को नयी ज़िंदगी में क्या मिला? इसका खुलासा उसने जा-ब-जा अपने अश्आर में पेश किया है. मसलन वो ग़ज़ल जिसका मक़्तअ' ये है :

नयी दुन्या के हंगामों में 'नासिर'
दबी जाती हैं आवाज़ें पुरानी

वो ग़ज़ल जिसमें उसने शाइरों के शह्र लाहौर के बुझ जाने का मातम किया है, माज़ी और नयी ज़िंदगी का मुक़ाबला उसकी कई ग़ज़लों का मौज़ू' भी है, और ये ग़ज़लें एक बड़े, सच्चे दुख का पता देती हैं. नासिर की आवाज़ अपने दौर की सबसे ज़ियादः दुखी और उदास आवाज़ है. और बाज़ अवक़ात अपनी सच्चाई से हमारे वुजूद के सच्चे तारों को इस तरह छूती है कि उसकी चोट देर तक दिल में महसूस होती रहती है. नासिर की उदासी कच्ची चांदी की तरह सच्ची और ख़ालिस है. नासिर क़ाज़मी ने उदासी को शाइराना तर्ज़े-ज़िंदगी का इस्तिआरा (रूपक) बना दिया. उदासी के बग़ैर न ज़िंदगी अपना जादू जगाती है, न मुहब्बत. उदासी के मा'नी है, शाइर होना या इससे भी आगे बढ़कर इंसान होना. यूं नासिर की शाइरी में उदासी सिर्फ़ एक कैफ़ीयत बन कर नहीं आती, बल्कि ज़िंदगी की एक क़द्र बन जाती है.

ख़ैर, नासिर ने ये तो दरयाफ्त कर लिया था कि उसकी शाइरी और ज़िंदगी का उस्लूब (शैली) क्या होना चाहिये, लेकिन अस्ल सवाल तो ये है कि ज़िंदगी उस उस्लूब के नश्वोनुमा (पोषण) में मदद करती है या उसकी राह में रुकावटें खड़ी करती हैं. शाइर को ये फ़ैसला तो करना ही पड़ता है कि वो कैसी ज़िंदगी बसर करना चाहता है. कैसी शाहरी करना चाहता है. लेकिन ये फ़ैसला एक बार होकर नहीं रह जाता, क्योंकि हमारे अंदर और बाहर बहुत-सी चीज़ें इस फ़ैसले के ख़िलाफ़ अमल करती रहती हैं और उससे टकरा कर उसकी सूरत बदलती रहती हैं. इस मा'नों में शाइर होना और शाइर रहना एक मुस्तक़िल जिहाद को नाम है. नयी दुन्या के हंगामे नासिर की ज़िंदगी और शाइरी-दोनों के उस्लूब से बराहे-रास्त (सीधे) मुतसादिम (टकराने वाला) है. ज़िंदगी में उस पर क्या गुज़री और उसकी बेवक़्त मौत में नयी दुन्या के कौन-कौन से सफ़्फ़ाक (क्रूर) और बेरहम अनासिर (तत्व) काम कर रहे थे, उसके तो ख़याल से भी ख़ुद समेत सारी दुन्या से नफ़रत होने लगती है. लेकिन शाइर की हैसियत से नासिर का सबसे बड़ा अलमीया ये था कि उस ज़िंदगी में उसकी ख़ल्लाक़ाना (सृजनात्मक) उदासी का भी कोई मक़ाम न था. उस ज़िंदगी से टकरा कर वो शो'ला बनने की

बजाय राख हो गया था. था ही वो इतना हस्सास (संवेदनशील), इतना नाज़ुक और इतना छुईमुई-सा शाइर. नासिर ने ये एहसास ज़रूर कर लिया था कि नयी दुन्या उसकी शाइरी और शाइराना तर्ज़े-ज़िंदगी के दरपे है. इसी एहसास से वो कभी-कभी बहुत गुस्से में बोलता है :

मुम्किन नहीं मताए-सुख़न मुझ से छीन ले
वो बाग़बां जो कुंजे-चमन मुझ से छीन ले
सींची हैं दिल के ख़ून से मैंने ये क्यारियां
किस की मजाल मेरा चमन मुझसे छीन ले

फिर इसी गुस्से की एक शक्ल वो भी है जब वो नयी दुन्या को पैग़म्बराना अंदाज़ में मुस्तक़बिल से डराने लगता है :

ज़बां सुख़न को, सुख़न बांकपन को तरसेगा
सुख़नकदा मिरी तर्ज़े-सुख़न को तरसेगा
नये प्याले सही तेरे दौर में साक़ी
ये दौर मेरी शराबे-कुहन को तरसेगा
उन्हीं के दम से फ़रोज़ां हैं मिल्लतों के चराग़
ज़माना सुहबते-अर्बाबे-फ़न को तरसेगा

लेकिन दुखभरे गुस्से की इन कैफ़ीयतों में उसे कभी-कभी ख़ुद एतिमादी (आत्म-विश्वास) की वो लहर भी महसूस होती है जो कि एक शाइर की सबसे क़ीमती मताअ (पूंजी) होती है. उस वक़्त उसके लहजे में एक बांकपन, एक ज़िंदा अंदाज़ तफ़ाख़ुर (गर्व) की शान पैदा हो जाती है :

सू ए मक़्तल भी सदा दी हमने
दिल की आवाज़ सुना दी हमने
आतशे-ग़म के शरारे चुन कर
आग ज़िंदां में लगा दी हमने
रह गये दस्ते-सबा कुम्हला कर
फूल को आग लगा दी हमने
कितने अदवार की गुमगश्ता नवा
सीन-ए-ने में छुपा दी हमने

लेकिन इसी ग़ज़ल में देखने की चीज़ ये है कि ख़ुद नासिर जानता है कि ये फ़त्ह व कामरानी एक वक़्ती-सी चीज़ है :

आज तो रात जगा दी हमने

नयी दुन्या के ख़दो-ख़ाल (चिह्न) नासिर के शुऊर में ज्यों-ज्यों ज़ियादः उजागर होते गये, उसे बार-बार ये एहसास होने लगा कि वो तनहा है. उसका क़ाफ़िला उसे छोड़ कर किसी और तरफ़ निकल गया. वो चैन से सोती हुई बस्तियों के दरमियान मारा-मारा फिरता है और उसे कोई हमसफ़र नहीं मिलता. उसके दियार (ठिकाने) की सोयी हुई ज़मीन उन लोगों से ख़ाली हो गयी है, जिनकी उसे तलाश है. बाज़ार बंद हैं. रास्ते सुनसान और घर बेचराग़ हैं. तनहा रातों का मुसाफ़िर उदास शाइर देखता है कि कोई घर से नहीं निकलता. इसी आलम (स्थिति) में अगर कोई मिलता भी है, तो दिल की बात करने या सुनने के क़ाबिल नहीं मिलता, क्योंकि अब दिलों में आग बाक़ी नहीं रही. कोई चीज़ है, जो खो गयी है और सारे तज्रिबे का निचोड़ :

ख़ुदा जाने हम किस ख़राबे में आकर बसे हैं (वीराना)
जहां अर्ज़े-अहले-हुनर नक्हते-रायगां है (बेकार ख़ुशबू)

तनहाई, कस्मपुर्सी (बेबसी), बेहिसी (संवेदनशून्यता) और बेरुखी के इस आलम में कुछ उम्मीद थी, तो उन लोगों से, जो नासिर ही की तरह नासिर के साथ दिल जलाने के हुनर को क़ाइम रखते आये थे, मगर नयी दुन्या ने उन्हें भी बदल दिया. अब उनका आलम भी समाज के दूसरे लोगों से मुख़्तलिफ़ नहीं था :

बने बनाये हुए रास्तों पे जा निकले
ये हम सफ़र मिरे कितने गुरेज़पा निकले (भगोड़े)
अब उनसे दूर का भी वास्ता नहीं 'नासिर'
वो हमनवा जो मिरे रतजगों में शामिल थे

अंजाम?

किस से कहूं, कोई नहीं, सो गये शहर के मकीं (रहने वाले)
कब से पड़ी है राह में मय्यते-शह्र बेकफ़न

नासिर इस सारे तज्रिबे को समझने को कोशिश करता है, तो उसे एहसास होता है कि उसकी शाइरी और शाइराना तर्ज़े-ज़िंदगी का सब से बड़ा दुश्मन वो निज़ामे-ज़र (अर्थ-तंत्र) है, जो नयी दुन्या ने पैदा किया. पहले ये एहसास कुछ ज़ाती तर्ज़ का है, लेकिन रफ़्ता-रफ़्ता नासिर उसे ज़ियादः गहराई में देखने लगता है. नासिर को मा'लूम होने लगता है कि फ़ितरत और इंसान से जो रिश्ता वो क़ाइम करना चाहता था, उसे इस निज़ामे-ज़र ने नामुम्किन बना दिया है. ये निज़ामे-ज़र लोगों को उदास नहीं बनाता, बेहिस और सफ़्फ़ाक बनाता है. नासिर की शाइरी में आहिस्ता-आहिस्ता इस निज़ामे-ज़र के वो पहलू उजागर होने लगते हैं, जो इंसानों को अंदर और बाहर से बदल रहे हैं. दूसरों ही को नहीं, ख़ुद नासिर को भी. ख़ैर ज़ाती हद तक तो नासिर ने एक ख़ास मूड में ये दुखभरा एतिराफ़ (स्वीकारोक्ति) भी कर लिया कि :

अब तो ख़ुश हो जाएं अर्बाबे-हवस
जैसे वो थे हम भी वैसे हो गये

लेकिन उनके दूसरे पहलू इन अश्आर में देखिये :

जिन्हें ज़िंदगी का शुऊर था उन्हें बेज़री ने बिछा दिया (विपन्नता)
जो गिरां थे सीन-ए-ख़ाक पर वही बन बैठे हैं मो'तबर (बोझ)

लश्कर है, न पर्चम है, न दौलत है न सर्वत (समृद्धि)
हैं ख़ाकनशीनों के निशां और तरह के

चंद घरानों ने मिल-जुल कर कितने घरों का हक़ छीना है
बाहर की मिट्टी के बदले घर का सोना बेच दिया है

ये अश्आर ता'दाद में ज़ियादः नहीं हैं. और शायद उनमें वैसी शाइरी भी नहीं है, जिसकी तवक़्क़ो (अपेक्षा) हम नासिर क़ाज़मी से करते हैं, लेकिन नासिर को शाइरी की फ़ज़ाओं में इन सायों की मौजूदगी, इस बात का सबूत है कि नासिर नयी दुन्या की हक़ीक़ी सूरते-हाल से वाक़िफ़ ज़रूर था. नयी दुन्या नासिर की शाइरी और शाइराना तर्ज़े-ज़िंदगी को मिटाने के दर पे थी और बहुत दिनों उदास-उदास फिरने, तनहाई का दुख सहने और 'नक्हते-रायगां' का मातम करने के बा'द नासिर की नज़र बहरहाल अपने अस्ल दुश्मन को पहचानने लगी थी. नासिर की महसूसाती शाइरी में इतनी तुवानाई (ऊर्जा) नहीं थी कि वो नयी दुन्या की सूरते-हाल को आईना दिखा सकता. और शायद ये भी दुरुस्त है कि 'सब्र कर, सब्र कर' और 'हमनफ़्सो! शुक्र करो' जैसी ख़ूबसूरत ग़ज़लों के बावजूद उसे दुन्या से निकलने का रास्ता दिखायी भी नहीं दिया और वो अपने सारे तज्रिबे के तौर पर सिर्फ़ इतनी बात कह सका :

एक नया दौर जन्म लेता है—एक तहज़ीब फ़ना होती है

नासिर की ज़िंदगी और शाइरी हमें बताती है कि नयी दुन्या में सच्ची तख़्लीक़ नामुम्किन होती है और सच्चे फ़नकार के लिये मेयो हॉस्पीटल के दरवाज़े के सिवा हर दरवाज़ा बंद है. ❑

(आहंग—अप्रैल, मई-1976)
(बशुक्रिया : ख़लील तनवीर, उदयपुर)

मेरे नॉवेल और मैं

औरहान पामुक

ओरहान पामुक को जर्मनी के फ्रेडियन इन्आम-2005 से नवाज़ा गया है. इस मौक़े पर की गयी तक़्रीर यहां पेश है.

ओरहान 7 जून, 1952 को इस्तम्बूल में पैदा हुए. उनके सात नॉवेल शाए' हो चुके हैं. उनकी किताबों को संजीदगी में पढ़ा जाता है. वो ज़्यादातर तुर्की में रहे, मगर आर्किटेक्चर और जर्नलिज़्म की डिग्री के लिये तीन साल न्यूयार्क में भी रहे. उन्होंने 1974 में लिखना शुरू किया. तुर्की में ख़िलाफ़त के ख़ात्मे के बा'द जो सूरते-हाल बनी, उसका ख़ुलासा उनकी तख़्लीक़ात में नुमायां तौर पर होता है. उनकी बेबाकी पर तुर्की हुकूमत ने मुकद्दमा भी क़ाइम किया था, जो यूरोपियन दबाव के तहत वापस ले लिया गया. ओरहान के नॉवेल 'स्नो' का एक बाब 'शेष-37' में बतौर कहानी पेश किया गया था.

मेरे नॉवेल बर्फ़ (Snow) का तुर्की हीरो अपनी ज़िंदगी के पंद्रह साल फ्रेंकफ़र्ट में गुज़ारता है. मेरा हीरो जिसका नाम 'का' है, का काफ़्का से उसका कोई रिश्ता नहीं है. बस अदबी वास्ता है. 'का' का अस्ल नाम करीमअल्ला था, मगर ये नाम उसे पसंद नहीं था; इसलिये वो अपने छोटे नाम को तरजीह देता है. 1980 में वो पहली बार सियासी शरणार्थी की हैसियत से फ्रेंकफ़र्ट गया था, जबकि सियासत से उसका ज़ियादः लेना-देना नहीं था. अस्ल में वो शाइर था, इसलिये तुर्की सियासत का आकलन बस एक हादिसा था जो किसी के साथ भी हो सकता था. सियासत से अगर उसका कुछ ता'ल्लुक़ था, तो उसकी मर्ज़ी और



पसंद के ख़िलाफ़ फ्रेंकफ़र्ट में उसके ठहरने की तफ़्सील को बिल्कुल सहीह् तरीक़े से पेश करने की ग़रज़ से 2000 में मैंने भी इस शहर का सफ़र किया था. हर सुब्ह अपने घर से शहर की लाइब्रेरी तक जाता था. उसको समझने के लिये मैं भी स्टेशन के पास वाक़े'चकलों, तुर्कियों के अड्डों, हज्जामों और मयूख़ेन स्ट्रीट पर वाक़े'कबाब की दुकानों के पास से गुज़रता हुआ क्लॉक टॉवर स्क्वेअर तक चलता था. मैं फ्रेंकफ़र्ट के पुराने इलाक़ों से गुज़रता था, जहां तुर्कों ने अपना बसेरा डाल रखा था. इस तरह मुझे उन मस्जिदों, हजामतख़ानों और कॉफ़ी हाउसों को देखने का भी मौक़ा मिल जाता था. उत्तर-पूर्वी तुर्की की छोटी-सी बस्ती कार्स का भी दौरा किया करता था. हमारे अक्सर नॉवेलों का यही पस-मंज़र भी है. चूंकि उस इलाक़े से हमारा परिचय बराए-नाम था, इसलिये अपने नॉवेल के बैक ग्राउंड बनाने से पहले मैं उस ख़ित्ते का बार-बार जाइज़ा लेता था. अपने ठहराव के दौरान वहां अक्सर लोगों से मुलाक़ातें हुईं और उन मुलाक़ातियों में से कई हमारे दोस्त भी बन गये. मैं एक-एक गली और एक-एक दुकान का गहरी नज़र से अवलोकन किया करता था. वहां से कॉफ़ी हाउसों में बैठकर वक़्तगुज़ारी करने वाले उन बेरोज़गार नौजवानों से बातचीत भी किया करता था, जिन्हें कभी रोज़गार पाने की उम्मीद नहीं रही थी. उनके इलावा वहां के छात्रों, वर्दीपोश या सादा लिबास वाले पुलिसवालों से भी बातचीत किया करता था. हालांकि मैं जहां भी जाता, ये लोग मेरे पीछे साये की तरह लगे रहते थे. मुझे उन अख़बार मालिकों से भी गुफ़्तगू करने का मौक़ा मिला, जिनके अख़बार ढाई सौ से ज़ियादः भी नहीं छपते.

ये सारी तफ़्सील मैं इस वज्ह से बयान कर रहा हूं कि नॉवेल लिखने के फ़न का जो ख़ास पहलू है, उसको बेहतर तरीक़े से समझने में मुझे इन रोज़मर्रा के अवलोकन से बड़ी मदद मिली है. किसी ग़ैर शख़्स या अजनबी या दुश्मन भी जो हमारे शुऊर में बसता है, उसे समझने का हुनर मिला. फ्रेंकफ़र्ट या कार्स की सड़कों पर मेरे भटकने का इसके सिवा कोई मक़्सद नहीं था कि दूसरों की ज़िंदगी का क़िस्सा मैं इस तरह पेश कर सकूं, जैसे वो हमारी ही कहानी हो. इस तरह की मशक़्क़त करने के बा'द ही नॉवेलनिगार उस हद की शनाख़्त कर सकता है जो दूसरों के दरमियान खिंची होती है. मगर इसकी बदौलत वो अपनी ज़ात और शनाख़्त की हदों को भी बदल सकता है. इस तरह दूसरे हम और हम ख़ुद दूसरे हो जाते हैं. यक़ीनन नॉवेलनिगार दोनों कारनामों को अंजाम दे सकता है. जिस बात का ता'ल्लुक़ हमारी अपनी ज़िंदगी से होता है, उसका रिश्ता दूसरों से भी जुड़ सकता है. मत्लब ये कि दूसरों के हालाते-ज़िंदगी को भी ज़ाती बना कर पेश किया जा सकता है.

नॉवेलनिगार को ये बात भी समझ में आ जाये कि दूसरे या ग़ैर उसे अपनी ज़ात के ख़ौल से निकलने में मदद पहुंचाएंगे, क्योंकि नॉवेलनवीसी की तारीख़ अस्ल

में इंसान की आज़ादी की कहानी भी है.वो इस तरह कि दूसरे के नक़्शे-क़दम पर चलते हुए अपनी कल्पना की दुन्या में हम अपनी जुदागाना शनाख़्त से ऊपर उठ जाते हैं और इस तरह ख़ुद आज़ाद हो जाते हैं. डेनियल डेफ़ू के मशहूर नॉवेल रॉबिन्सन क्रूसो को पढ़ते वक़्त हमारी पहचान सिर्फ़ रॉबिन्सन क्रूसो से नहीं, बल्कि उसके गुलाम फ्रायड से भी होती है. डॉन क्यूकजो अगर किताबों की दुन्या में मगन रहने वाले नवाब से तआरुफ़ कराते हैं, तो हमारी मुलाक़ात नवाब के मुलाज़िम सांचोपायज़ा से भी होती है. टॉलस्टाय के नॉवेल 'अन्ना करेनिना' में ख़ुशगवार घरेलू ज़िंदगी गुज़ारने वाले उस शख़्स से मिलते हैं जो उस मज़्लूम औरत का तसव्वुर करता है, जिसकी शादीशुदा ज़िंदगी ख़ुशगवार नहीं है. जो उस ज़िंदगी के साथ अपने वुजूद को भी तबाह कर लेती है. टॉलस्टाय को इसका ख़याल किसी और मर्द नॉवेलनिगार के यहां से आया था जो ख़ुद तो शादीशुदा नहीं था, मगर मैडम बावरी के फ़िक्रो-एहसास तक पहुंच गया था. मॉबी डक जैसे क्लासिक के ज़रीए मेलवेल ने अपने ज़माने के अमेरिका के ख़ौफ़ और अंदेशों का राज़ खोला है. उन्हें ग़ैर मुल्की कल्चर के हमलों का ख़ौफ़ सता रहा था.

जो लोग किताबों के ज़रीए दुन्या को समझना चाहते हैं, वो साउथ अमेरिका वालों के एहसासात या फ़ॉकनर के नॉवेलों के नीग्रो किरदार के फ़िक्र व जेह्न को समझे बग़ैर दुन्या को नहीं समझ सकते. हम समझते हैं कि कोई जर्मन उपन्यासकार अगर जर्मनी के तमाम बाशिंदों से मुख़ातिब होना चाहता है, तो वो अपने यहां आबाद उन तुर्कों के बारे में, जिनकी वज्ह से जर्मनी में कुछ मुश्किलें भी हैं, खुल्लमखुल्ला या इशारों में कुछ नहीं कहेगा, तो उसकी तहरीर में कुछ कमी रह जायेगी. इस तरह तुर्की का कोई उपन्यासकार कुर्दों या अपने यहां के दूसरे अल्पसंख्यकों को नज़रअंदाज़ करता या अपने यहां की रवायती इतिहास सियाह धब्बों को उजागर नहीं करता है, तो हमारे ख़याल में वो अधूरी तख़्लीक़ पेश करता है.

आम ख़याल के बरख़िलाफ़ उपन्यासकार के सियासी नज़रीये का ता'ल्लुक़ उस समाज, सियासी पार्टियों या लोगों से नहीं होता, क्योंकि उपन्यासकार की सियासत ख़याली होती है या'नी अपने ज़ेह्न में वो समझने लगता है कि वो औरों से अलग है. वो न सिर्फ़ उन इंसानी हक़ीक़तों का सुराग़ लगता है, बल्कि उन बेज़ुबानों की ज़बान बन जाता है जो अपना दुखड़ा किसी को नहीं सुना सकते, जिनकी ज़बान को ख़ामोश कर दिया जाता है और जिनके गुस्से और नाराज़ी की तरफ़ ध्यान नहीं दिया जाता है. मैं समझता हूं कि किसी उपन्यासकार के लिये क़तई ज़रूरी नहीं है कि नौजवानी के दिनों में सियासत से जुड़ा रहा हो और अगर रहा है, तो कुछ हासिल किये बग़ैर अपना दामन बचाने में कामयाब हुआ हो. मुख़्तलिफ़ वक़्तों के अहम सियासी नॉवेलों को पढ़ने का रिवाज नहीं रहा है. रूसी लेखक दोस्तोयवस्की ने जिस वक़्त अपना नॉवेल

'दुश्मन' लिखना शुरू किया था, उस वक़्त उसके ज़ेहन में शायद इतना ही था कि पश्चिम परस्तों और निहिलिस्टों के ता'ल्लुक़ से कोई बहस छेड़ेंगे. मगर मुकम्मल होने के बा'द ये नॉवेल अपने दौर के रूस और सॉल्विकों की रूह के अंदर की रूदाद पेश करता है. तह की बातों को नॉवेल ही में पेश किया जा सकता है. ज़ाहिर है कि अख़बार या मैगज़ीन पढ़ने से हम बहुत अंदर का हाल नहीं जान सकते. टेलीविज़न भी ऐसी गहरी नज़र पैदा नहीं कर सकता. दूसरी क़ौमों या लोगों के इतिहास के जुदागाना पहलुओं को हम नॉवेलों में भी देख सकते हैं. दोस्तोयवस्की के किरदार ने जब कानाफूसी के अंदाज़ से अपने पाठकों को इतिहास की गोपनीय बातों को उजागर करना शुरू किया, तब इतिहास के बारे में दोस्तोयवस्की का नज़रीया भी साफ़ होता चला गया. अपने देश का इतिहास पेश करने वाला उपन्यासकार मायूस और नाउम्मीद भी है, क्योंकि एक साथ वो पश्चिम को पसंद भी करता है और नापसंद भी. वो पश्चिमी तहज़ीब के रौशन पहलू की ता'रीफ़ भी करता है और डरता भी है. वो एक साथ दो ख़यालों और दुन्याओं के बीच फंसा हुआ है.

ऐसे में पूर्व और पश्चिम का सवाल उठता है. अख़बारनवीसों के नज़दीक ये सवाल बहुत अहम और लुभावना है. ख़ास तौर से पश्चिमी देशों के अख़बारनवीसों में. मैं समझता हूं, पश्चिम व पूर्व की बहस ही फ़ज़ूल है, क्योंकि पश्चिम वाले चाहते हैं कि पूर्व वाले उनकी हर बात को मान लें. मगर यूरोप और ख़ास तौर से अमेरिका को ये मा'लूम होना चाहिये कि हमारी अपनी तहज़ीब, परंपराएं और आस्थाएं हैं. हम लेखकों को चाहिये कि हम लगातार इन सवालों को अपने लेखन में उठाते रहें.

ऐसा नहीं है कि पश्चिमी देशों ने बदनीयती के तहत ऐसा सवाल खड़ा कर दिया है, क्योंकि वहां मुआमला अमीरी और ग़रीबी का है. 19वीं सदी में जब उस्मानी सल्तनत को ये महसूस होने लगा कि ताक़तवर पश्चिम उस पर हावी होने लगा है और यूरोपी फ़ौजों से उसे लगातार शिकस्त मिल रही है, तब कुछ ऐसे जोशीले नौजवान उभर कर आये जिन्हें 'यंग तुर्क' कहा जाता था. उन्होंने पश्चिमी अंदाज़ में सुधार की मुहिम छेड़ दी. मुस्तफ़ा कमाल अतातुर्क ने पश्चिम की रौशनी में जिस तरह तुर्की को आगे बढ़ाना चाहा था, वही जज़्बा आज भी जारी है. ये समझा जा रहा है कि तुर्की की ग़रीबी और कमज़ोरी की जड़ में वहां की दक़ियानूसी रवायतें, पुरानी तहज़ीब और मज़हबी कट्टरपन है. मेरा ता'ल्लुक भी इस्तम्बूल के एक पश्चिमनवाज़ दरमियानी तबक़े से है. मुझे ये मानने में कोई हिचक नहीं कि कई बार मैं ख़ुद भी इस अंदाज़ से सोचने लगता हूं. लाख नेक मक़्सद क्यों न हो, मगर मुआमलों को समझने का ये आसान और महदूद तरीक़ा है.

पश्चिमनवाज़ लोग पश्चिमी तहज़ीब की नक़्ल करके अपने मुल्क को ख़ुशहाल बनाना चाहते हैं. पश्चिमनवाज़ी की दौड़ में ये लोग अपने मुल्क और संस्कृति को

ग़लत-अंदाज़ नज़रों से देखते हैं. इन्हें अपने कल्चर की कमज़ोरियों व निकम्मेपन का गहरा एहसास है, लेकिन इन चीज़ों को वो पश्चिम वालों की नज़र से नहीं देखते. इनका जज़्बा बहरहाल अलग है. लेकिन ऐसे फ़िक्रो-नज़र की वज्ह से जो गड़बड़ी पैदा हुई है, उसके नतीजे में शर्मिन्दगी का जज़्बा हावी होता जा रहा है.

मेरे नॉवेलों को पढ़ कर या पश्चिम के तईं मेरे जो ख़यालात हैं, उसके रद्दे-अमल के तौर पर भी शर्मिन्दगी का इज़्हार किया जाता है. हम तुर्की वाले जब पूर्व और पश्चिम के सवाल पर बहस करते हैं, तो हम यूरोप और तुर्की के ता'ल्लुक़ात के बारे में गड़बड़ा जाते हैं और बहाने तलाशना शुरू कर देते हैं. कोई शर्मिन्दगी का इज़्हार करता है, तो कोई क़ौमी गुरूर का...

हमारे नॉवेल का कच्चा माल यही होते हैं यानी शर्मो-हया, गुस्सा और शिकस्त का एहसास. वज्ह ये है कि हम उस मुल्क व क़ौम से वास्ता रखते हैं जो यूरोप के दरवाज़े पर दस्तक दे रहा है. इसी वज्ह से हमें बार-बार शर्मिन्दा होना पड़ रहा है. यहां मैं इसी शर्मिन्दगी के बारे में बात करने आया हूं, जिसका एहसास मुझे पहले-पहल दोस्तोयवस्की का नॉवेल पढ़ने से हुआ था. मत्लब ये कि शर्म की बात करते हुए आज़ादी का माहौल पैदा करना चाहते हैं. नॉवेल के फ़न से मुझे यही सबक़ मिला है. नॉवेल, क़िस्सा-कहानी और मिथ को पढ़ने से हम उन विचारों और जज़्बों तक पहुंचते हैं जिनका इस दुन्या पर क़ब्ज़ा है. फ़िक्शन ही के ज़रीए हम पर वो हक़ीक़तें खुलती हैं, जो हमारे घर वालों ने हम से छिपा कर रखी थीं. सिर्फ़ हमारे घर वालों ने ही नहीं, हमारे स्कूल और समाज के तबक़ों ने भी हमें अंधेरे में रखा. नॉवेल के फ़न से हम इस लायक़ होते हैं कि अपने बारे में छानबीन कर सकें.

नॉवेलों को पढ़ने से ख़ुशी भी हासिल होती है, इससे हम वाक़िफ़ हैं. दूसरी दुन्या तक ले जाने वाले रास्ते पर नॉवेल के ज़रीए चलते हुए हम अपने अंदर जोश व उमंग की लहर दौड़ती महसूस करते हैं और उस दुन्या में पहुंचकर हम उसे बदलने की आर्ज़ू करने लगते हैं. नॉवेल के मर्कज़ी किरदार के साथ-साथ हमारा भी ज़ेह्नी सफ़र शुरू हो जाता है और हमें लगता है कि मर्कज़ी किरदार के तज्रिबों में हम भी बराबर के शरीक हैं.

जब हम किसी कोने में बिस्तर पर या दीवान पर लेट कर कोई नॉवेल पढ़ना शुरू करते हैं, तो हम अपनी कल्पना की मदद से नॉवेल की दुन्या और ख़ुद अपनी दुन्या के दरमियान सफ़र करने लगते हैं. उस नॉवेल को पढ़ते-पढ़ते हम किसी अनदेखी और अनजानी दुन्या में पहुँच जाते हैं. या फिर नॉवेल के किरदार की बुराइयों में पहुँच जाते हैं. अपने तसव्वुर की आंख से बहुत सारे लोगों को हम आरामकुर्सी पर बैठे-बैठे देखने लगते हैं. इसके साथ ही हम उनकी ज़िंदगी के हालात के बारे में सोचने लगते हैं. फिर पूरे इलाक़े में हज़ारों-हज़ार पाठकों को नॉवेल पढ़ते और नॉवेलनिगार के

ख़्वाब में शामिल होते और ख़ुद को हीरो समझते और उसकी दुन्या की सैर करते देखते हैं. मत्लब ये कि सारे पाठक लेखक ही की तरह दूसरों को देखते हुए ख़ुद को उनकी जगह समझने लगते हैं.

बड़ा साहित्य सिर्फ़ हमारी समझ से वास्ता नहीं रखता, बल्कि हमारे अंदर दूसरों की जगह पर खड़ा होने की सलाहियत भी पैदा करता है. अगर हम सिर्फ़ तफ़रीह और वक़्त गुज़ारी के लिए पढ़ते हैं, तो हम अपने समाज और मुल्क के मुता'ल्लिक़ कोई सामूहिक सोच नहीं रखते. जबकि होता ये है कि नॉवेल क़ौम के फ़ख़्र व मसर्रत के जज़्बात को ही नहीं, बल्कि उसकी नाराज़ी, गुस्से, कमज़ोरियों और शर्मिन्दगियों को भी ज़बान देता है. इन जज़्बात को उभारना नॉवेलनिगार का ऐसा कमाल है कि अक्सर नॉवेल तो आग में झोंक दिये जाते हैं, मगर उससे नॉवेलनिगार का वक़ार बढ़ जाता है.

हमारी परवरिश ऐसे घराने में हुई, जहां हर शख़्स नॉवेल पढ़ा करता था. हमारे वालिद की बहुत बड़ी ज़ाती लाइब्रेरी थी. हमारे बचपन में ही हमारे वालिद काफ़्का, दोस्तोयवस्की और टॉलस्टाय जैसे बड़े उपन्यासकारों के बारे में इस तरह बातें किया करते थे जिस तरह दूसरों के बाप जनरलों और सूफ़ियों का ज़िक्र करते थे. शुरू ही से इन उपन्यासकारों का ता'ल्लुक़ यूरोप के हवाले से था. ऐसा नहीं था कि सिर्फ़ हमीं पश्चिमपरस्त थे. और लोग भी थे. यूरोप के बड़े कारनामों में नॉवेल का भी शुमार किया जाता है. मैं समझता हूं कि ऑर्केस्ट्रा म्यूज़िक और नवजागरण के बा'द मुसव्विरी की तरह नॉवेल भी यूरोपी तहज़ीब का एक सुतून था. और इसके ज़रीए यूरोप ने अपने वुजूद और तख़्लीक़ी हुनर को नुमायां किया है.

नॉवेल के बग़ैर यूरोप का तसव्वुर नहीं किया जा सकता. हमारे ख़याल में नॉवेल सोचने, समझने और महसूस करने का एक ज़रीआ है. ये ख़ुद को दूसरों की तरह समझने का भी वसीला है. दुन्या के दूसरे ख़ित्ते के क्या नौजवान और क्या बच्चे, यूरोप को अच्छी तरह समझने के लिये नॉवेल ही का सहारा लेते हैं. हमारा भी यही हाल था. नॉवेल के ज़रीए हम यूरोप की हदों में दाख़िल होते हैं, नई तहज़ीब, नई संस्कृति से परिचित होते हैं और इस सफ़र के ज़रीए नये जज़्बे के इज़्हार के साथ नया हौसला और उमंग भी पाते हैं और कुल मिला कर हम ख़ुद को यूरोप ही का एक हिस्सा समझने लगते हैं. हमारे अंदर इस क़िस्म का जज़्बा और ख़याल पैदा होता था. नॉवेल के ज़रीए हम पर ये हक़ीक़त भी ज़ाहिर होती है कि यूरोप की सरहद, तारीख़ और क़ौमी निशान बराबर बदलता रहा है. हमारे वालिद की लाइब्रेरी में फ़्रांसीसी, रूसी और जर्मनी के जो नॉवेल थे, उनमें जिस पुराने यूरोप का नक्शा पेश किया गया था, वो हमारे बचपन के यूरोप से मिलता जुलता था और आज का यूरोप जो लगातार बदलता जा रहा है, उसका ज़िक्र आज के नॉवेलों में मिलता है. इसके ज़रीए मौजूदा

यूरोप को समझने में हमें मदद मिलती है.

लेकिन यूरोप के बारे में हमारा एक ही तसव्वुर है जो स्थायी और पायदार है. मुझे अर्ज़ करने दीजिये कि तुर्कियों के नज़दीक यूरोप एक बहुत ही नाज़ुक और संवेदनशील मस्अला है, क्योंकि यहां हम उनके दरवाज़े पर खड़े होकर अंदर आने की इजाज़त मांग रहे हैं. दाख़िल हाते वक़्त हमारी नीयत साफ़ है, इसलिये हमें बड़ी उम्मीद है कि अंदर आने की इजाज़त मिल जायेगी. मगर दाख़िले की इजाज़त के नामंज़ूर हो जाने या ठुकरा दिये जाने का ख़ौफ़ भी लगा हुआ है. दूसरे, तुर्कों की तरह मैं भी बहुत हस्सास (संवेदनशील) हूं. ये एहसास अस्ल में शर्मिन्दगी का यही ख़ामोश एहसास है जिसकी तरफ़ मैं पहले भी इशारा कर चुका हूं. तुर्की वाले आस लगाये दस्तक पर दस्तक दे रहे हैं. जिसके जवाब में यूरोप यक़ीन भी दिलाता है, मगर फिर भूलकर रुकावट खड़ी कर देता है. यूरोप के कुछ मुल्क तुर्की के ख़िलाफ़ सख़्त रवैया अपनाये हुए हैं. जर्मनी के हालिया चुनावों के दौरान कुछ सियासतदानों ने तुर्की और यहां के बाशिंदों के ख़िलाफ़ जो सियासी रविश अपनायी, उसे देख कर मुझे अपने ही मुल्क के कुछ सियासतदानों के सख़्त और ख़तरनाक रवैये की याद आ गयी. तुर्की की कमियों और कोताहियों को तन्क़ीद का निशाना बनाना अलग बात है, लेकिन तुर्की तहज़ीब या वहां के ग़रीब और पसमांदा लोग जो जर्मनी चले आये हैं, उनके बारे में ओछी राय रखना बिल्कुल अलग बात है. जो लोग तुर्की ही में हैं, उन तक जब ये ख़बर पहुंचती है, तो उनके अंदर ये ख़याल पैदा होता है कि वो किसी के दरवाज़े पर दस्तक तो दे रहे हैं, लेकिन वो वहां के बिना बुलाए मेहमान हैं. ये सितमज़रीफ़ी (विडंबना) नहीं तो क्या है कि यूरोप में क़ौम परस्ती का जज़्बा तुर्कियों के ख़िलाफ़ बढ़ता जा रहा है. इसके रद्दे-अमल के तौर पर तुर्की में भी ढीठ क़िस्म की क़ौमपरस्ती पनपने लगी है. यूरोपी बरादरी के ज़िम्मेदारों को ये समझना चाहिये कि क़ौमपरस्ती के बजाय अम्न के रास्ते को चुनना है, क्योंकि दोनों में कोई एक ही चीज़ मिल सकती है. लेकिन मुझे यक़ीन है कि यूरोपी बरादरी को भी अम्न प्यारा है और तुर्की ने यूरोप वालों के सामने अम्न की जो तज्वीज़ रखी है, उसे बेकार नहीं जाने दिया जायेगा.

अब हमारे सामने दो ही रास्ते हैं. एक तो नॉवेल की ताक़त है और दूसरा क़ौमपरस्ती का वो नमूना है जहां उस नॉवेलनिगार की किताब को जला दिया जाता है. इनमें से किसी एक ही रास्ते को चुना जाता है. इधर चंद बरसों में तुर्की और यूरोपी बरादरी में उसकी शिरकत की कोशिशों की मैं वकालत करता रहा हूं. इसकी वज्ह से मुझे कटघरे में खड़ा किया जाता रहा है. इन सवालात के जवाबात मैं यहां देना चाहूंगा. जर्मनी और दीगर यूरोपी मुल्कों को, तुर्की और वहां के अवाम जो अहमतरीन तुहफ़ा दे सकते हैं, वो बिला शुब्ह अम्न ही है. यूरोप में शामिल होने के लिये किसी मुस्लिम मुल्क की तमन्नाओं के मुताबिक़ सुरक्षा और ताक़त ही आयेगी. अपने बचपन और

नौजवानी के दिनों में जिन अहम नॉवेलनिगारों को हमने पढ़ा था, उनमें से किसी ने यूरोप को ईसाई अक़ीदे को रौशनी में नहीं, बल्कि अपने नज़रीये से पेश किया था. उन लोगों ने अपने नॉवेलों में उन मर्कज़ी किरदारों को पेश किया है जो अपनी आज़ादी, उमंगों और ख़्वाबों को साकार करने में लगे हुए थे और ये सारे नॉवेल हमारे दिल के बहुत क़रीब थे. यूरोप ने आज़ादी, बराबरी और भाईचारे के नज़रीये की परवरिश जिस अंदाज़ से की है, उसे यूरोप के बाहर के लोग बड़ी क़द्र की निगाह से देखते हैं. रौशनख़याली, बराबरी और जुम्हूरीयत जिसकी रूह है, ऐसी बरादरी में तुर्की को भी जगह मिलनी चाहिये.

इस्तम्बूल के यूरोपी असर वाले पश्चिमपसंद सेकूलर माहौल में पर्वान चढ़ने पर हमारे या हमारे जैसे लोगों के लिये यूरोपी बरादरी के तसव्वुर से सहमत होना कुछ मुश्किल नहीं है. हमारी तरह लाखों तुर्क अवाम यूरोपी बरादरी पर दिलो-जान से ईमान रखते हैं. जिस तरह हम यूरोप की तरक़्क़ी से हट कर तुर्की को नहीं देख सकते, उसी तरह तुर्की की ख़ुशहाली के बग़ैर यूरोप का तसव्वुर नहीं किया जा सकता. सात साल से बाईस बरस की उम्र में मैं आर्टिस्ट बनने का ख़्वाब देखा करता था और इसी शौक़ को पूरा करने के लिये मैं इस्तम्बूल की सड़कों पर निकल कर अपने शहर का नक़्शा पेश किया करता था. आज भी मुसव्विरी के ज़रीए वही मक़्सद हासिल करना चाहता हूं जो अदब से हासिल नहीं हुआ. जादू की इस दुन्या में पहुंचने के लिये मैं रोज़ाना कमरे में घंटों बंद रहा करता था और बारीक से बारीक और नाज़ुक से नाज़ुक पहलुओं पर ग़ौर किया करता था. तीस साल तक मैं जिस दुन्या की ता'मीर में मसरूफ़ रहा, वो दुन्या बेशक उन्हीं चीज़ों से बनी थी जिससे हम सब वाक़िफ़ हैं. इस्तम्बूल, कार्स और फ्रेंकफ़र्ट में वो सारी चीज़ें एक जैसी हैं.

अपने नॉवेल 'बर्फ़' के छपने के बाद जब भी मैं फ्रेंकफ़र्ट की सड़कों पर चला-फिरा हूं, मेरे मर्कज़ी किरदार की रूह मेरा पीछा करती रही है. हालांकि उसके और मेरे दरमियान बहुत ही कम समानताएं हैं. फिर भी मुझे ये महसूस होता रहा है कि वाक़िई मैंने इस शह्र को देखा-परखा है. मलार्मे ने क्या सच्ची बात कही : 'दुन्या की हर चीज़ किताब में पेश की जा सकती है. दुन्या की तमाम चीज़ों को अच्छी तरह समोने की सबसे ज़ियादः ताक़त नॉवेल में ही है. कल्पनाओं की ताक़त इंसानों की बड़ी ताक़त है जिसका इज़्हार सदियों से नॉवेल की शक्ल में होता रहा है.' ❑

(नया वरक़-23, 2006, पी.बी. 5030, चिंच बंदर पोस्ट ऑफ़िस, मुंबई-09)

ज़िंदगी का नया सफ़र

अली अमजद

अली अमजद (दिसंबर, 1924 को) पटना में पैदा हुए थे जिनका 23 दिसम्बर 2005 को कराची में इंतिक़ाल हुआ. वो कम्युनिस्ट पार्टी के सरगर्म कारकुन थे और उन्हें ज़िंदगी का बेशतर हिस्सा जेलों में गुज़ारना पड़ा. 1968 में वो पाकिस्तान चले गये और वकालत का पेशा अपनाया, मगर मज़दूरों के हुक़ूक़ के लिये आख़िर तक सरगर्म रहे. जमशेदपुर के मज़दूरों की तारीख़ी हड़ताल और हिन्दू-मुस्लिम फ़सादात में उसको दबा देने की तारीख़ पर उनका नॉविल 'काली माटी' के नाम से शाए' हुआ. उनकी आपबीती 'शाख़े-निहाले-ग़म' का एक हिस्सा–

जब मैं विदेशों से देहली लौटा, तो कुछ अशरफ़ भैया के दोस्ताना मश्वरों और कुछ चंद्रमासिंह की वार्निंग से मैंने ये फ़ैसला कर डाला कि अपनी ज़िंदगी का ढंग बदल ही डालूं. ख़ानदान बिखर चुका था, तो घर बसाना यूं भी ज़रूरी था. एक ख़ानदान '55 में बिखरा और एक '65 में. क्यूबा की लालुचा आर्मुडा की ललकार हो या रूस की पुरानी सोशलिज़्म की चहकार, किसी ने दिल में वो गर्मी नहीं पैदा की कि 'पेशेवर इंक़िलाबी' राह के कांटों को ख़याल में न लाये और मंज़िल तक अपनी राह चलता जाये.



जमशेदपुर के मेरे चंद दोस्त जमाल और उनकी बेगम, रामअवतारसिंह और सलीम मेरे हमराह औरेन आये और मैं इशरत को ब्याह लाया. घर पर कोई रवायती ख़ैर-मक़्दम करने वाला नहीं था. रास्ते में धनबाद में एक बार क़ियाम किया, मगर वो तो इशरत का मायका ही था. जमशेदपुर में आज़ाद बस्ती में जमाल की वालिदा ने घर

वाली मुहब्बत दी और फिर उस दिन हम लोग बगान वाले घर में मुंतक़िल हो गये. मेरे हमसाये जिनके मकान का एक हिस्सा मैंने किराये पर लिया था, मेरे बड़े काम आये. इशरत को उन्होंने हाथों-हाथ लिया और शायद मेरे घर की कममायगी का एहसास होने नहीं दिया.

जमशेद्पुर में 1964 के फ़सादात का असर बज़ाहिर कम हो चुका था, मगर कड़वाहट बहरहाल क़ाइम थी. जमशेद्पुर जहां 1947 के फ़सादों की आंच भी नहीं पहुंची थी, इस बार बुरी तरह झुलसा था. यहां तक कि हमारी नुमाइंदा हैसियत भी ख़त्म हो चुकी थी और कुछ बड़े कारआमद और सरगर्म कारकुन सीपीएम में शामिल हो गये थे जो कि पुरानी सोशलिज़्म से उकता चुके थे.

फिर एक वाक़िआ, जो हादिसा होते-होते बच गया. इत्तिफ़ाक़ से रामनवमी का त्योहार और हज़्रत अली की शहादत का दिन एक साथ पड़ गया. जुलूस के रास्ते और वक़्त अलग-अलग करने की कोशिश की गयी, मगर कारख़ानों के शह्र में ड्यूटी के वक़्त एक-से होते हैं और इसलिये रास्ते थोड़े बहुत अलग-अलग होने के बावजूद बिल्कुल जुदा भी नहीं हो सकते थे. एक मुक़ाम पर मुसलमानों का जुलूस एक तरफ़ से और हिंदुओं का जुलूस दूसरी दिशा से. एक तरफ़ राम के जांनिसार और बजरंगबली हनुमान के भगत और दूसरी तरफ़ इस्लाम के जांनिसार. उधर से बजरंग बली की जय, इधर से नारः ए-हैदरी या अली! जोश बढ़ता जा रहा था कि पता नहीं, मुसलमान छोकरों में से किसी ने ना'रा उठाया–'कहां गये बजरंग बली, उनको ढूंढें हज़्रत अली!'

इससे पहले कि इस ना'रे की गूंज दूसरे जुलूस वालों तक पहुंचती, हमारे एक आदमी ने मुसलमान नौजवान के मुंह पर हाथ रखा और नार-ए-हैदरी की बलंद आवाज़ 'ढूंढ़ने वाले' की आवाज़ पर छा गयी.

दूसरे दिन भोलाप्रसाद ने मुझ से कहा, "अमजद भाई, आपको पता नहीं चला कि 1964 ने आपको कितना नुक़्सान पहुंचाया. अगर 1964 न होता, तो आपको सर खुजाने की फ़ुर्सत नहीं मिलती. अस्ल में दो ही वक़्त लोग जात-पात का ख़याल करते हैं–एक तो बेटी देते वक़्त और दूसरे वकील रखते वक़्त!"

भोला बाबू की इस बात पर मैं दंग रह गया और मैंने वाक़िई नज़र डाली, तो मेरे पास अक्सर मुसलमान मुवक्किलों के ही मुक़द्दमे थे. इसके लिये मैं अपनी बदक़िस्मती के इलावा किसी और बात को दोष कैसे देता?

फिर मेरे ही मुहल्ले में बम का एक ज़बरदस्त धमाका हुआ. हुआ ये था कि अर्से से शह्र में एक दूसरे फ़साद की ख़बरें गर्म थी और मुसलमान लड़कों ने अपने घर में दस्ती बम मंगवा कर रखे हुए थे. उनके इस्ते'माल की अभी तक नौबत नहीं आयी. कुछ पता नहीं, गर्मी की वज्ह से या किसी इत्तिफ़ाक़ से दो बम फट गये और

एक के बा'द एक बम फटते रहे. पूरे शह्र में ख़ौफ़ फैल गया. मुसलमान बम बना रहे थे. मंदिर को बम से उड़ा देने का प्रोग्राम था. जितने मुंह, उतनी बातें!

पुलिस आयी. लड़के गिरिफ़्तार हुए. मुक़द्दमा बना. एक का बाप मेरे पास आया. किस को वकील करें? हिंदू-मुस्लिम झगड़े का मुक़द्दमा बन सकता है. मुसलमान वकील खुल कर पैरवी नहीं कर सकेगा.मगर ऐसा हिंदू वकील बताइये, जिस पर भरोसा किया जा सके. आप साथ ही रहिये ताकि उस पर निगाह रखी जा सके. काफ़ी टेढ़ी खीर थी.

एक बार फिर मैंने कराची का प्रोग्राम बनाया इशरत के साथ जाने का. अगरचे अपने कुन्बे में भी थोड़े ही लोग रह गये थे. अम्मां और भाईजान दूसरी दुन्या की तरफ़ रवाना हो चुके थे. असलम भैया भी नहीं रहे थे. बोबो थीं मगर उनका भी क्या साथ देता! भाई अतहर साहिब के साथ ज़ेह्नी रिफ़ाक़त ज़ियादः थी. तनवीर, नाहीद और जावेद—मेरे भानजे जो मुझे बहुत अज़ीज़ थे, उन्होंने कारज़ारे-हयात में क़दम नहीं रखा था. अपने अब्बाजान के गुज़र जाने के बा'द उनके ग़मों पर भी क्या मर्हम रखता कि मैं उन सभों से इतनी दूर और ख़ुद मुझे अपने दूसरे क़दम का पता नहीं था. हिंदुस्तान में मेरे पास पीछे हटने की कोई जगह नहीं थी. वकालत का कोई भरोसा यूं भी नहीं होता और मेरा नाम बिहार हुकूमत की उस लिस्ट में दर्ज था जहां किसी बड़ी इमरजेंसी या तहरीक में शायद सबसे पहले मुझे हटाना ज़रूरी समझा गया था. हिंद-चीन की जंग हो या हिंदो-पाक का तनाज़ा या कोई सत्याग्रह.

यूं भी इंक़िलाब का दिया बुझने लगा था.

ख़ुश्चेव ने हम में से अक्सर को ज़मीन पर ला पटका था. सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस की ख़ुफ़िया रिपोर्ट के बा'द से इतना अर्सा गुज़रने पर भी होश ठिकाने नहीं हुए थे. हिंदुस्तानी पार्टी की पालघाट कांग्रेस में, मैंने कहा था कि ख़ुश्चेव की ये रिपोर्ट हमारी ज़िंदगी और मौत का सवाल थी और कम-अज़-कम सियासी ज़िंदगी और मौत का सवाल तो बन ही चुकी थी. अब भले ही सत्यनारायणसिंह स्टालिन की सियासी तस्वीर को सीने से लगाये फिरें और यही कम्युनिस्ट माउत्सेतुंग को इंक़िलाब का 'नया सूरज' बता कर नयी जोत जगाने की कोशिश करें. क्यूबा वालों ने कहा कि हमारा अपना भी अलग एक सूरज है और यहां मेरे सर पर ज़िंदगी के सूरज की तपन बड़ी सख़्त थी.

कराची पहुंच कर भी मैं अर्सा तक उधेड़बुन का शिकार रहा. क्या करूं, क्या न करूं! फिर पासपोर्ट की मुद्दत ख़त्म हो गयी और मेरी उलझन का फ़ैसला हिंदुस्तानी सिफ़ारतख़ाने ने कर दिया. जब मैंने अपने पासपोर्ट की मुद्दत बढ़ाने के लिये हाई

कमीशन में दरख़्वास्त दी, तो वहीं एक अफ़सर ने मुझे पासपोर्ट पर लिखी हुई एक तहरीर दिखायी–बिहार गवर्नमेंट की मंज़ूरी के बग़ैर इस पासपोर्ट का रिनीवल न किया जाये.

"इसका मत्लब?"

"इसका मत्लब ये कि पासपोर्ट के रिनीवल की दरख़्वास्त भी बिहार सरकार के पास भेजनी होगी और वही इस पर फ़ैसला करने के मजाज़ होंगे. और इस दरमियान में आप यहीं इंतिज़ार करें."

चुनांचे मैंने पाकिस्तानी शहरीयत की दरख़्वास्त दे दी और ऐन उसी वक़्त इशरत वापस चल दीं. दो माह बा'द जब मुझे नागरिकता मिल गयी कि उन दिनों ये इतना दुश्वार मर्हला नहीं था, तो जगन्नाथ का ख़त आया. फिर चुनाव होने वाले हैं. तुम लोग इस बार चुनाव में खड़े हो सकते हो. मैं उस ख़त का जवाब नहीं दे सका.

सोचा था कि भाई अतहर साहिब के एक गुमनाम जूनियर की हैसियत से इन्कम टैक्स की प्रैक्टिस में लग जाऊंगा. थोड़ा बहुत चेम्बर का काम भी किया, मगर यहां भी मैं अपने माज़ी से पीछा नहीं छुड़ा सका.

इशरत वापस आयीं तो ग़ज़ाला उनकी गोद में थी. मैंने अलहदा एक मकान किराये पर ले लिया. वहीं एक दिन सिंध के मज़दूरों की एक टीम मुझे ढूंढ़ते-ढूंढ़ते पहुंची, उसके रहनुमा जो आजकल ख़ुद एक वकील हैं, कहने लगे, "हम लोग परसों से हड़ताल पर जाने वाले हैं. आपका नाम बहुत सुना, तो सोचा कि आपसे बेहतर हमारा कोई मददगार नहीं होगा."

मा'लूम हुआ कि हज़ारीबाग़ से आये हुए एक हज़्रत ने उन्हें मेरे पास भेजा है. वो दिन और आज का दिन है. लेबर कोर्टों की प्रैक्टिस के बा'द मुझे दूसरे किसी काम का वक़्त ही नहीं मिला.

बोबो ने एक कॉलेज में प्रोफ़ेसरी की मुलाज़मत कर ली. फिर कॉलेज टीचर्स के मुज़ाहरे हुए और उनकी मांगें. टीचरों ने भूख हड़ताल की मुहिम शुरू की. इसी मौक़े पर डॉ. आलिया इमाम से भी मुलाक़ात हुई. उसकी एक रोज़ा भूख हड़ताल ख़त्म हुई, तो बोबो ने तादमे-मर्ग भूख हड़ताल शुरू कर दी. उसने पूरी मुहिम में 'जीतेंगे या मरेंगे' वाला जोश भर दिया. बेचारा जावेद रोता हुआ पूछने लगा, "अम्मी मर जाएंगी!" मैंने उसे दिलासा दिया.

कैम्प से निकलते हुए भाई सिब्ते हसन मिले. बोले–"मैंने समझा था, कोई ज़ुहरा दाऊदी ख़ातून होंगी. मौलवी शफ़ी दाऊदी का ख़याल भी न आया था."

भूख हड़ताल कामयाबी से हमकिनार हुई और कॉलेज टीचर्स के बहुत सारी मांगें मान ली गयीं. उन्हीं दिनों जर्नलिस्टों की कामयाब हड़ताल हुई और पाकिस्तान सिक्योरिटी प्रेस के मज़्दूरों की 76 दिन की हड़ताल. वकीलों ने काले कोट और

गाऊन पहन कर जुलूस निकाले और जुम्हूरीयत की मांग की. वकीलों का जुलूस उन दिनों मेरे लिये अनोखी चीज़ था. उस वक़्त तक हिंदुस्तान में मेरा किसी ऐसे जुलूस से वास्ता नहीं पड़ा था. चार्ल्स डिकंस ने अपने किसी नॉवेल में जो तस्वीरकशी किसी वकील और उसके ऑफ़िस की, की थी, मेरे सामने वकीलों की वही तस्वीर उभरती थी. पुरानी किताबें, फ़ाइलें, उन पर महीनों या सालों की पड़ी हुई गर्द, दो कमरों के दरमियान एक पर्दा और दफ़्तर की मेज़ पर एक अधेड़ उम्र का इंसान जिसने कोट पहना हुआ था, जिसका रंग उतना ही सियाह था; जितना उसका ज़मीर!

मगर जमशेदपुर के अनंगमित्रा की तस्वीर बेज़मीर वकीलों की नहीं थी. निडर, मुंहफट और साफ़गो जिसने अदालत के अहाते में एक पुरानी फ़ोर्ड में अपना ऑफ़िस बना रखा था. मुंह में बीड़ी और शायद उसी में भरा हुआ चरस या गांजा. बेतहाशा गालियां बकते कि घर पर साधु-संतों ने डेरा जमा रखा था. अदालत उसकी पुरानी फ़ोर्ड में, उसका दफ़्तर पीछे, सीट पर टाइपिस्ट और अदालतों के चक्कर लगाता हुआ उसका मुंशी. जब उनका केस चलना होता, तो दौड़ कर साहिब को ख़बर करता और अनंग बाबू यूं अदालत में पधारते कि विरोधी कांप-कांप जाते.

सिंध अल्कालिज़ के मुक़द्दमे में मेरा वास्ता फ़ैसल साहिब से पड़ा जो दीवानी मुक़द्दमों के बड़े नामी वकील थे. लेबर कोर्ट में उनके जूनियर शम्सी साहिब (मर्हूम) और सिंध लेबर अपीलेट ट्रिब्यूनल और हाई कोर्ट में वो ख़ुद मिजाज़न मुझे फ़ैसल साहिब और उनके जूनियर दोनों पसंद आये. उनकी तबीअत में मैंने एक शराफ़त देखी जो बदक़िस्मती से कई दूसरे वकीलों का ख़ासा भी नहीं थी. मुझे ये मा'लूम करके ता'ज्जुब हुआ कि वकालत के इब्तिदाई दिनों में फ़ैसल साहिब ख़ुद भी मज़्दूरों की तरफ़ के वकील की हैसियत से शुह्रत हासिल कर चुके थे. मगर बा'द में उन्होंने भी अपना मैदान बदला कि मज़्दूरों की वकालत में पैसे नहीं मिलते. पेशे के एतिबार से ये मैदान सूखा-सा था.

सिंध अल्कालिज़ के मज़्दूरों के बाद मेरा वास्ता सिक्योरिटी प्रेस के मज़्दूरों, उनकी यूनियन और उनके लीडर मुहम्मद यामीन से पड़ा. सिक्योरिटी प्रेस में करेंसी नोट और दीगर सरकारी काग़ज़ात छापे जाते थे, इसलिये उसका हिफ़ाज़ती इंतिज़ाम सख़्त होने के बावजूद यहां उन दिनों यूनियन बनाने और हड़तालों पर कोई रोक नहीं थी.

मुहम्मद यामीन ख़ुद कारख़ाने का मज़्दूर था, मगर बड़ा पुरजोश और मज़्दूरों की मांगों की ख़ातिर अपनी नौकरी हर वक़्त अपनी हथेली पर रखे रहा करता था. याह्याख़ां था तो चीफ़ मार्शल-लॉ एडमिनिस्ट्रेटर, मगर उस दौर में वो चुनाव कराने पर संजीदा नज़र आता था.पाकिस्तान की तारीख़ में पहले आम चुनावों की गहमागहमी में मज़्दूरों की तहरीक को भी काफ़ी बल मिला हुआ था. हड़ताल लंबी हो गयी और उसकी हिमायत में कई ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशनों ने हिमायत का ऐ'लान किया. शह्र में

शेष

जमाअते-इस्लामी की अपनी फ़ेडरेशन और यूनियन–दोनों ही थी, मगर वो मुहम्मद यामीन और उसकी यूनियन की हिमायत नहीं करना चाहते थे जबकि उनके ख़याल में ये लोग कम्युनिस्ट थे. हड़ताल मज़्दूरों और मज़्दूर तहरीक से बिल्कुल नाता भी नहीं तोड़ना चाहते थे. चुनांचे उन्होंने हड़ताली मज़्दूरों के घर वालों के लिये कमीशन तक़्सीम करने का कैम्प खोल दिया. उन्हीं दिनों फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और भाई सिब्ते हसन ने एक हफ़्तावार 'लैलो-निहार' शाए' करना शुरू किया. उसमें सिक्योरिटी प्रेस के हड़ताली मज़्दूरों की हिमायत में मेरे एक दो मज़्मून भी शाए' हुए.

कम्पनी की तरफ़ से सिक्योरिटी प्रेस के वकील ए.आर. क़ाज़ी थे, जो डिस्ट्रिक्ट एंड सेशन जज रह चुके थे. बुज़ुर्ग आदमी थे, मगर दीवानी मुक़द्दमों में ज़ाब्ते की हर धारा पर झगड़ा करने वाले. मेरा जब उनसे वास्ता पड़ा, तो देखा कि अक्सर किसी न किसी बहाने से मुक़द्दमा मुल्तवी करके तारीख़ ले लिया करते थे, बल्कि इसी में उन्हें महारत हासिल थी. किसी एक मौक़े पर जब उन्होंने फिर तारीख़ लेनी चाही और उज़्र में किसी ज़ाती मज्बूरी का हवाला दिया, तो मेरे लिये सीधे मुख़ालफ़त करनी तो मुश्किल नज़र आयी, मैंने अदालत से महज़ ये कहा कि जनाब, वही तारीख़ दी जाए, मगर इसका ख़याल रखा जाये कि आयंदा तारीख़ तक हम दोनों में से किसी का इंतिक़ाल न हो जाये. जज साहिब मुस्करा दिये.

मगर क़ाज़ी साहिब अदालत के कमरे से बाहर आये, तो नाराज़ी के साथ मुझ से कहने लगे कि आप मेरे मरने की बद्दुआ दे रहे हैं? मैंने मुआफ़ी चाहते हुए कहा, "क़ाज़ी साहब, मैंने 'हम दोनों' की बात कही थी."

बहरहाल इसके बा'द अर्सा तक मेरा और क़ाज़ी साहब का मुक़ाबला होता रहा, मगर आख़िर में हम लोगों की दोस्ती हो गयी. उनके बेटे मामून क़ाज़ी ने अपने वालिद साहिब की जगह ले ली. बाद में वो हाई कोर्ट के जज और फिर सुप्रीम कोर्ट के जज की हैसियत से रिटायर हुए. उनके जब्री रिटायरमेंट की कहानी कभी बा'द में!

सिक्योरिटी प्रेस के मज़्दूरों में अच्छी-ख़ासी ता'दाद लड़कियों की थी, जिन पर मालिकान ने नौकरी की शर्तों में एक शर्त ये रखी थी कि वो बिनब्याही होंगी और अगर उन्होंने शादी की, तो मुलाज़मत से अलग कर दी जाएंगी. मैंने इसी शर्त को चैलेंज किया. ग़ज़ब ख़ुदा का कि मुसलमान लड़कियां कराची में मुलाज़मत के लिये मज्बूर हों और उन पर ये शर्त आयद की जाये कि वो शादी नहीं करेंगी और अगर शादी की तो उसकी सज़ा मुलाज़मत से अलेहदगी!... मैं ये मुक़द्दमा जीत गया.

मैंने कराची की पहली आमद पर ही मुहाजिरों की समाजी ज़िंदगी में एक ख़ुशगवार तब्दीली महसूस की थी. दोपहर को बस पड़ाव पर स्कूल यूनिफ़ॉर्म में बच्चियों की भीड़ देख कर मा'लूम हुआ कि लड़कियों की ता'लीम मुसलमान घरानों में मम्नूअ नहीं रह गयी थी. बिहार में जिन घरानों के लड़के इसलिये ता'लीम में

दिलचस्पी नहीं दिखाते थे कि पढ़-लिख कर नौकरी थोड़े ही करनी है कि अल्लाह का दिया घर में तीन पुश्तों के लाइक़ सब कुछ है, वहां भी अब लड़कियों की ता'लीम को ज़रूरी समझा जा रहा था. और तो और, दरमियानी तबक़े की लड़कियां सिक्योरिटी प्रेस और दवाओं की फ़ैक्टरियों में काम कर रही थीं और उसे बुरा नहीं समझा जा रहा था. ऐसे लड़के, जो पढ़-लिख कर घर पर निकट्टू होकर, बेकार घूम कर क़ाहिली की ज़िंदगी गुज़ारा करते, वो यूं बिज़नेस करने पर टूट पड़े हैं, मा'लूम होता है ख़ानदान पुश्तों से बिज़नेस करता आया है.

कराची में भाई अतहर साहिब उन दिनों इन्कम टैक्स प्रैक्टिस में लगे थे, मगर 1952 के लगभग रावलपिंडी साज़िश केस में सज्जाद ज़हीर की वकालत कर रहे थे. रावलपिंडी साज़िश केस की ख़ास बात ये थी कि बचाव का वकील करने में भी हुकूमत से मंज़ूरी हासिल करनी ज़रूरी थी. बचाव के बड़े वकील हसन शहीद सुहरवर्दी थे जो बा'द में कभी पाकिस्तान के वज़ीरे-आ'ज़म भी बनाये गये, मगर उस वक़्त की पाकिस्तानी सियासत में बुरे दिन देख रहे थे. सज्जाद ज़हीर (बन्ने भाई) अतहर साहिब से हिंदुस्तान के ज़माने से वाक़िफ़ थे. शायद तरक़्क़ीपसंद अदीबों की तहरीक के हवाले से कि भाई अतहर साहिब 1936 में तमन्नाई के साथ 'शमीम' की एडिटिंग कर रहे थे जो बिहार में तरक़्क़ीपसंद अदब का अकेला माहनामा था और शायद इसी हैसियत से वो ऑल इंडिया तरक़्क़ीपसंद मुसन्नफ़ीन की कान्फ्रेंस में शरीक भी हुए थे. इस लिहाज़ से जब सज्जाद ज़हीर साहिब को अपने किसी वकील को नामज़द करने की बात आयी, तो उन्होंने भाई अतहर को ही भरोसे के क़ाबिल समझा और इस नाम की हुकूमत से मंज़ूरी भी मिल गयी.

मैं जिस वक़्त भाई अतहर साहब के ऑफ़िस में शरीक हुआ, उस वक़्त मुझे इन्कम टैक्स क़ानून क्या, दरअस्ल किसी और क़ानून की एबीसीडी भी मा'लूम नहीं थी. सच पूछा जाये तो भाई अतहर साहब के सियासी रौब के इलावा मेरी उनसे भी कोई ख़ास वाक़फ़ियत नहीं थी. हम लोग एक दूसरे से अगर वाक़िफ़ थे, तो एक तरफ़ अपने ख़ानदान की तारीख़ और फिर सोशलिज़्म के हवाले से.

कुछ अर्से के बा'द दाऊद कॉटन मिल्स के हड़ताली मज़दूरों की हिमायत में होटल जबीं में एक छोटा-सा जल्सा हुआ. याद नहीं, मुझे उसमें शिरकत की दा'वत किसने दी थी? वैसे उसके कर्ताधर्ता चीनीनवाज़ कम्युनिस्ट रहनुमा थे. शिरकत करने वालों में इब्राहीम जलीस का नाम नुमायां था. होटल जबीं का रुतबा वही था, जो किसी ज़माने में हिंदुस्तान में कॉफ़ी हाउस का हुआ करता था, जहां बाएं बाज़ू से ता'ल्लुक़ रखने वाले दानिश्वर, लेखक और दूसरे अदीब व शाइर इकट्ठे हुआ करते थे और ख़ुशगप्पी के तौर पर मुल्क के सियासी और समाजी मस्अलों पर विचार करते थे. कराची में इस मशग़ले का नाम 'मुबसीयत' पड़ गया था जिसे दूसरे लफ़्ज़ों में

'आए, बैठे, बातें कीं और चलते बने' के नाम से पुकारा जा सकता था.

मगर उस बैठक का मौज़ू' ज़ियाद: संजीदा था. ऐसा मा'लूम होता था कि हड़ताल दम तोड़ने वाली है और एक लंबी हड़ताल और बड़े पैमाने पर गिरिफ़्तारियों के बा'द ये जल्सा किसी समझौते के लिये बुलाया गया था. चंदेक तक़रीरों के बा'द ये तै हुआ कि शहरियों का एक डेलीगेशन डिप्टी कमिश्नर से मिल कर हड़ताल के पुरअम्न समझौते के लिये हुकूमत पर ज़ोर डाले और उन सैंकड़ों मज़दूरों की रिहाई की मांग, जो इंतिज़ामिया की शह पर कुछ अर्सा से क़ैद की तकलीफ़ें बरदाश्त कर रहे थे. इब्राहीम जलीस का प्रतिनिधि मंडल में पहला नाम था. मुझे हैरानी हुई जब मैं भी इसी प्रतिनिधि मंडल में शामिल कर लिया गया. मेरे लिये उसमें जाने से इन्कार करना मुम्किन न हुआ. अगरचे मुझे हड़ताल के सिलसिले में किसी भी बात का पता नहीं था.

डिप्टी कमिश्नर ने डेलीगेशन को दूसरे दिन मिलने का वक़्त दिया और हम लोग ठीक वक़्त पर पहुंचे. मैंने एहतियातन अपना काला कोट पहन लिया था, ताकि हड़ताल से मेरा पेशावराना ता'ल्लुक़ वाज़ेह हो सके. शायद ये उसी काले कोट की करामत थी कि डिप्टी कमिश्नर ज़ियाद:तर मुझ से मुख़ातिब रहा. वो बताने लगा– "आपको इल्म नहीं है कि आप किस की वकालत कर रहे हैं. अस्ल में ये लोग चेग्वारा के मानने वालों में हैं." (इस बेचारे को क्या पता कि मैं चेग्वारा के देश से हो आया हूं) "चुनांचे उन लोगों ने हड़ताल में ख़ास चेग्वारा के तरीक़े इस्ते'माल किये."

"वो कैसे? मैंने पूछा.

"अजी हज़रत, इन लोगों ने एक बिल्ली को पकड़ कर उसकी दुम में नमदा बांधा और केरोसिन तेल से भिगो कर आग लगा दी और रूई के गोदाम में छोड़ दिया. वो तो ख़ैरियत हुई कि बेचारी बिल्ली दूसरी तरफ़ भाग गयी."

मैंने बड़ी मुश्किल से अपनी हंसी रोकी, "ये किसी इंक़िलाबी का काम तो नहीं रहा होगा. ज़रूर किसी छोकरे की शरारत रही होगी."

"हड़ताली अगर कारख़ाने में आग लगाने लगें, तो फिर कारख़ाना कहां रहेगा और उनकी मांगें कौन पूरी करेगा?" मैंने कहा और इब्राहीम जलीस ने ताईद की.

"ये तो आप जैसे संजीदा लोग समझ सकते हैं, मगर उनकी समझ में ये बातें कहां?"

बहरहाल हम लोगों की लंबी बातचीत के बा'द ये तै हुआ कि गिरिफ़्तार मज़दूरों को ज़मानत पर रिहा कर दिया जायेगा और मज़दूरों की मांगें किसी पंचाट में रखी जाएंगी.

अगले दिन मैं डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की अदालत में एक दूसरे मज़दूर रहनुमा ग़ौस की ज़मानत के लिये पहुंचा कि हाई कोर्ट में उसकी ज़मानत की दरख़्वास्त मंज़ूर हो चुकी थी और यहां मुझे ज़मानत के काग़ज़ात जमा करवाने थे. देखा कि अदालत में

मज़दूरों की बड़ी भीड़ मौजूद है. मा'लूम हुआ कि ये सब दाऊद कॉटन मिल्स के मज़दूर हैं और इन सभी के ज़मानती काग़ज़ात एक ख़ातून अपने दस्तख़तों से पेश कर रही है.

मैं मजिस्ट्रेट के कमरे में बैठ कर एसएचओ की आमद का इंतिज़ार करने लगा ताकि ये मा'लूम किया जा सके कि ग़ौस किसी और मुक़द्दमे में मतलूब था या नहीं. ज़मानती काग़ज़ात पर मजिस्ट्रेट की मंज़ूरी के दस्तख़त पहले ही हो चुके थे. मैंने मजिस्ट्रेट साहिब से पूछ लिया, "दाऊद कॉटन मिल्स के पचास मज़दूर तो होंगे. इन सब की ज़मानत सिर्फ़ एक औरत अकेले ही ले रही हैं?"

वो हंस कर बोला, "मुहतरमा ने हमारी बड़ी मदद की है. अब हम इनकी मदद कर रहे हैं."

उसका इशारा समझने में मुझे ज़ियादः दिक़्क़त नहीं हुई. हड़ताल की रहनुमाई जिस ग्रुप के हाथों में थी, वो चीननवाज़ कम्युनिस्ट कहलाते थे और ये मुहतरमा जिनकी मदद से हड़ताल वापस करायी जा सकी, वो किसी और ग्रुप से ता'ल्लुक़ रखती थीं.

शुरू में मेरी ये कोशिश रही कि बाएं बाज़ू से ता'ल्लुक़ रखने वाले मुख़्तलिफ़ गिराहों से ता'ल्लुक़ पैदा करूं, मगर बा'द में उनकी गिनती भी रखना दुश्वार हो गया.

फिर एक दिन पीपुल्स पार्टी की एक चुनावी रैली में सिंध के अंदर जाने का इत्तिफ़ाक़ हो गया. डॉ. शमीम ज़ैनुद्दीन और नफ़ीस सिद्दीक़ी साथ में थे या कि मैं उनके हमराह था. उन दिनों चीनवाज़ कम्युनिस्ट ज़ुल्फ़िक़ार भुट्टो के साथ थे और डॉ. शमीम शायद पीपुल्स पार्टी के इलेक्शन बोर्ड की मेंबर भी थीं. सच्ची बात ये थी कि भुट्टो की पीपुल्स पार्टी की बुन्याद रखने में इन कम्युनिस्टों ने बड़ा काम किया था. यूं एक मा'नी में मुस्लिम लीग के इलावा पाकिस्तान में जितनी बड़ी सियासी जमाअतें सामने आयीं, उन सभी में पहले दौर में कम्युनिस्ट कारकुन बड़े नुमायां तौरं पर शामिल थे; बल्कि यूं कहा जाये कि उसकी बुन्याद ही उन्होंने डाली तो ग़लत न होगा. आज़ाद पाकिस्तान पार्टी ने बा'द में नेशनल अवामी पार्टी की शक्ल इख़्तियार की. ईस्ट पाकिस्तान से शुरू होने वाली अवामी लीग के लीडरान इन तमाम जमाअतों में क़ौमपरस्त सियासी रहनुमा बाइसे-इम्तियाज़ थे. नेशनल अवामी पार्टी में ख़ान अब्दुलवलीख़ान और अवामी लीग में हसन शहीद सुहरवर्दी.

मुहम्मदख़ां की उस रैली में मैंने क्या तक़रीर की, ये मुझे बिल्कुल याद नहीं रह गया. सिर्फ़ डॉ. शमीम ज़ैनुद्दीन की तक़रीर का एक जुम्ला याद रह गया कि इलेक्शन में वोट की पर्ची के साथ बर्छी को ज़रूर याद रखो. मेरी समझ में यह फ़िक़रा या ना'रा बिल्कुल नहीं आया. बा'द में मा'लूम हुआ कि बर्छी का नाम हथियारबंद इंक़िलाब की तरफ़ इशारा है. हथियारबंद इंक़िलाब का ये इशारा मुझे वैसा ही मा'लूम हुआ,

जैसे सरदारजी ख़ालसा की फ़त्ह के ना'रे के साथ कृपाण रखने की रवायत को अपने सीने पर एक नन्ही-मुन्नी-सी कृपाण लगा कर पूरा कर लेते हैं.

वैसे मुझे इस बात पर भी सख़्त हैरानी हुई कि उन दोस्तों ने चुनावों में पीपुल्स पार्टी के टिकट पर भी अपने उम्मीदवार नामज़द करने से इन्कार कर दिया. दलील ये थी कि इससे सुधारपसंदी को बढ़ावा मिलेगा. हैरानी इसलिये कि ये दोस्त पीपुल्स पार्टी कि क़ियाम में पेश-पेश थे. इलेक्शन कमेटी के मेंबर शायद ख़ुद डॉ. शमीम ही थीं और मुल्क के कोने-कोने में यही दोस्त भुट्टो का दाहिना बाज़ू बन कर काम कर रहे थे. फिर ख़ुद उम्मीदवार न बन कर वो सुधारवाद से अपना दामन कैसे बचा ले जाते!

कहने व करने का फ़र्क़ फिर वहां मिला जब इलेक्शन रैली के बा'द मेज़बान उम्मीदवार के घर पर दोपहर के खाने के लिये पहुंचे. ये मकान सिंध के बड़े वडेरों में से एक का था और दीवार पर पुरानी चमचमाती हुई तलवारें और शिकार किये हुए शेरों की खालें वो समां पैदा कर रही थीं, जो किसी भी नवाब के महल के शायाने-शान था. मुझ से रहा नहीं गया. मैंने नफ़ीस सिद्दीक़ी या किसी हमरकाब दोस्त से कहा कि हथियारबंद इंक़िलाब की गुफ़्तगू सुनने के बा'द इस महल में ये पुरतकल्लुफ़ दा'वत मौक़ा व महल के ऐन मुताबिक़ है.

बा'द में पीपुल्स पार्टी के एक मुक़ामी कारकुन के यहां पहुंचे, जहां सुभाषचंद्र बोस की इंडियन नेशनल आर्मी का ज़िक्र आया कि इस कारकुन के वालिद उसका अक्सर क़िस्सा बयान करते थे कि वो ख़ुद भी उसमें भर्ती हो चुके थे. पता चला कि पाकिस्तान के उन कम्युनिस्ट दोस्तों ने कभी न सुभाषचंद्र बोस का नाम सुना था और न इंडियन नेशनल आर्मी का. मुझे अंदाज़ा हुआ कि पाकिस्तान के बाएं बाज़ू के लोग भी हिंदुस्तान की जुम्हूरी तहरीक और तहरीके-आज़ादी के बेशतर पहलुओं से नावाक़िफ़ थे.

उन दिनों मैंने हिंदुस्तान से आये हुए मुहाजिरों का मूड देखा कि उन पर पाकिस्तानियत अभी तक तारी थी. इसकी एक मिसाल रईस अमरोही के उस क़तअ: से मिलती है, जो उन्होंने 1952 में उस वक़्त लिखा था; जब ईस्ट पाकिस्तान की सुबाई असेंबली ने बंगला ज़बान को उर्दू के साथ-साथ क़ौमी ज़बान देने की मांग की थी. वो क़तअ: कराची और सिंध में एक बार फिर दोहराया जाने वाला था, जब सिंधी को सिंध की दूसरी सरकारी ज़बान का दरजा देने का मुतालबा किया गया. वो क़तअ: था :

उर्दू का जनाज़ा है ज़रा धूम से निकले

जानने वाले जानते हैं कि 19वीं सदी में जब हिंदीदानों की तरफ़ से ये मुतालबा किया गया कि उन्हें भी हिंदी में दरख़्वास्तें और अर्ज़ियां पेश करने का हक़ मिलना चाहिये जो उर्दूदानों को हासिल था, तो सर सय्यिद और दूसरे मुस्लिम रहनुमा सख़्त

नाराज़ हुए और उसी वक़्त उन्होंने ऐ'लान किया कि हिंदुओं से कोई समझौता नहीं हो सकता है और हिंदू मुसलमान दो अलेहदा क़ौमें हैं.

मुझे इस ज़ेहनीयत की एक और मिसाल उस वक़्त मिली, जब मैं ख़ालिद से इस बहस में मसरूफ़ था कि पाकिस्तान का कल्चर क्या है और इसकी तारीख़ (इतिहास) क्या है? मुझे जवाब मिला कि पाकिस्तानी कल्चर की तारीख़ मुहम्मद बिन क़ासिम से शुरू होती है. मुख़्तसरन ये कि उस पर हिंदू रीति-रवाज की एक भी छींट नहीं पड़ी थी. फिर उन्होंने मुझे बड़े राज़दाराना अंदाज़ में बताया कि सिंध में जी.एम. सय्यिद सिंध के सूफ़िया के नाम से पाकिस्तान-मुख़ालिफ़ तहरीक को हवा दे रहे थे.

पाकिस्तान और हिंदुस्तान के सियासी माहौल और फ़ज़ा में, सियासी रहनुमाओं और जमाअतों के मिज़ाज और कल्चर में जो फ़र्क़ था, उसे समझने में मुझे ज़ियादः देर नहीं लगी. हिंदुस्तान में आज़ादी की तहरीक और कांग्रेस की पार्टी पुरानी भी थी और अनवरत भी. क्या कांग्रेस और क्या दूसरी सियासी जमाअतें, बाएं बाज़ू की जमाअतों समेत सभों के तज्रिबे और अवामी ता'ल्लुक़ात बरसों पर आधारित थे. हरेक का अपना नज़रीया और काम करने का तरीक़ा था. यहां मुस्लिम लीग की ज़िंदगी पाकिस्तान से पहले मुश्किल से दस साल की होगी (या'नी नयी मुस्लिम लीग की) और पाकिस्तान तहरीक की मुश्किल से 7 बरस की. और फिर शायद पाकिस्तान की तहरीक को रवायती मा'नों में तहरीक कहना भी मुश्किल था कि हुकूमते-वक़्त की तरफ़ से उसे किसी मुख़ालफ़त का सामना नहीं करना पड़ा, बल्कि इस तहरीक का निशाना सिर्फ़ कांग्रेस और हिंदू हमवतन थे. कहते हैं कि जब तक़्सीमे-हिंद के चंद माह पहले देहली में मुसलमान सिविल सर्वेंट्स का एक इज्लास हुआ और जिन्नाह साहिब से पूछा गया कि पाकिस्तान चले जाने के बा'द ऑल इंडिया मुस्लिम लीग का क्या होगा, तो उनका जवाब था–"मुस्लिम लीग? वो मेरे और मेरे टाइपिस्ट के इलावा क्या है?" लियाक़तअली जो साथ में बैठे थे, सिर्फ़ सर हिला कर रह गये. मि. जिन्नाह ने अपने आप को कभी ख़िलाफ़त तहरीक से वाबस्ता नहीं किया, बल्कि रवायत तो ये है कि मौलाना शौकतअली ने मि.जिन्नाह पर अपने गुस्से का इज़्हार जिस्मानी तौर से भी करने में गुरेज़ नहीं किया और ख़ुद मुस्लिम लीग भी इस तहरीक की हमनवा कभी नहीं बनी. ख़िलाफ़त तहरीक की जल्दबाज़ी से दूर इस एक तहरीक ने मुसलमानों को अंग्रेज़ हुकूमत के ख़िलाफ़ मोर्चाबंद कर दिया था. इसलिये इस तहरीक की जानशीनी जमअयते-उलमाए-हिंद तो कर सकती थी जो कांग्रेस के ज़ियादः नज़दीक थी, मगर मुस्लिम लीग उसकी दा'वेदार नहीं हो सकती थी.

कराची में आने के कुछ दिनों बा'द ही मेरी मुलाक़ात भाई समीअ से हुई. उनसे मेरी आख़िरी मुलाक़ात हिंदुस्तान में तक़्सीम से पहले हुई थी. पटना में वो मेरे पड़ोसी थे और समकालीन भी. क़ाइदे-आज़म के बड़े शैदाई और मुस्लिम लीग के बड़े सरगर्म

कारकुन. कराची में 'डॉन' के एडिटोरियल स्टाफ़ का काम करते थे. मेरी उनसे अक्सर बहस हुआ करती और मैं उनसे पूछता कि पाकिस्तान बन जाने से हिंदुस्तान के मुसलमानों का क्या फ़ाइदा होगा कि उन्हें तो बहरहाल यहीं मरना-जीना था. समीअ कहा करते कि बंगाल और पंजाब के हिंदुओं के चले जाने से जो जगह ख़ाली होगी, उसे यहां के मुसलमान भरेंगे. फ़िर ये न हुआ तो पाकिस्तान में जो हिंदू रह जाएंगे, वो हिंदुस्तान में मुसलमानों के साथ बेहतर सुलूक की गांरटी होंगे. ये बंधकों वाली थ्योरी थी, जिसके वकील चौधरी ख़लीक़ुज़्ज़मां थे. क़ाइदे-आज़म के साथ भाई समीअ की अक़ीदतमंदी का हाल ये था कि जब पटना में ऑल इंडिया मुस्लिम लीग का इज्लास हुआ, तो उन्होंने जिन्नाह साहिब को ख़त लिखा कि हिंद के मुसलमानों के सभी रहनुमा 'मौलाना' कहलाये और चूंकि आप सारे मुसलमानों के एकराय रहनुमा हैं, तो आपको भी यही लक़ब इख़्तियार करना चाहिये. समीअ को जिन्नाह साहिब के सेक्रेटरी ने एक लाइन का जवाब ये दिया कि जिन्नाह साहब अपने आप को 'मिस्टर' ही कहलाना पसंद करते हैं. दलील वज़नी थी, हालांकि ये भी कहा जा सकता था कि जिन्नाह साहिब का कोई इरादा दाढ़ी रखने का नहीं है, इसलिये यूं भी वो मौलाना नहीं कहलाये जा सकते थे.

मगर अब समीअ को यह मान लेने में हिचक नहीं थी कि हिंदुस्तान में मुसलमान नौजवानों की पूरी नस्ल उस ज़माने में ख़ुदफ़रेबी का शिकार थी और बात कुछ उन तक ही महदूद नहीं थी. वो नस्ल, जो पाकिस्तान की तहरीक में आगे थी, जब यहां पहुंची, तो उनके ख़्वाब बिखर गये. अक्सर ज़ाती तज्रिबे की बुन्याद पर और ज़ियाद:तर जो दुन्या उन्होंने अपने आसपास देखी, वो उनके तसव्वुरात से बिल्कुल अलग थी.

लुफ्तहंस एयरलाइन्स के मुक़ामी मैनेजर ने, जो हिंदुस्तानी-पाकिस्तानी थे, एक दिन मुझ से पूछा, "अमजद भाई, आपको पाकिस्तान आकर मायूसी नहीं हुई?"

मैंने इन्कार में सर हिलाया तो उन्हें हैरानी हुई. पूछा-"आपको जो पाकिस्तान मिला, वो आपकी उम्मीदों के ऐन मुताबिक़ था?"

मैंने कहा, "भाई! आप पाकिस्तान इसलिये आये कि किसी ने आपको बता दिया कि यहां एक मुसलमान क़ौम बसती है और आप जब से आये हैं, उसी क़ौम को तलाश कर रहे हैं; मगर आपको वो मिलती नहीं है, सो आप मायूस हैं कि यहां पंजाबी मिलता है, पठान, सिंधी और बलोच मिलता है, मगर पाकिस्तानी कभी नहीं मिलता. और मैं तो भाई, ऐसी किसी ग़लतफ़हमी का शिकार नहीं. बस चला आया. टिम्बकटू भी जा सकता था." ❑

(शाख़े-निहाले-ग़म से)

बशुक्रिया : प्रो. जाबिर हुसैन साहिब, उर्दू मर्कज़ अज़ीमाबाद, पटना)

कुछ उनकी कहानी, कुछ मेरी ज़बानी

रामप्रकाश कपूर

अली अमजद साहिब की स्वानेही किताब 'शाख़े-निहाले-ग़म' दिल की गहराइयों को छू गयी. कुछ भूली-बिसरी यादें ताज़ा हो गयीं. मेरी ज़िंदगी के हालात और तज्रिबात भी उनके कुछ तज्रिबात से मिलते-जुलते हैं. बिल्कुल एक जैसे लगते हैं. इसलिये भी पढ़ कर बहुत अच्छा लगा.

मैं उनकी तरह कम्युनिस्ट पार्टी का कुलवक़्ती कारकुन तो नहीं रहा, लेकिन काफ़ी अर्सा पार्टी का एक्टिव और कार्ड-होल्डर मेम्बर रहा. चूंकि उस वक़्त पंजाब गवर्नमेंट की सर्विस में था इसलिये मेरी मेम्बरशिप अपने नाम से नहीं, एक और नाम से थी. बा'द में उन्हीं की तरह मायूसी भी हाथ लगी और मैं सियासत से ही कनाराकश हो गया. काफ़ी अर्से से सियासत के सिवा पढ़ने-समझने से कोई सरोकार नहीं रहा. अब किसी कम्युनिस्ट पार्टी से ता'ल्लुक़ नहीं है. अब तो ये भी मा'लूम नहीं कि इस वक़्त कितनी पार्टियां कम्युनिस्ट और कार्ल मार्क्स की पैरोकार होने का दा'वा करती हैं.

अली अमजद साहिब की स्वानेह (आत्म-कथा) पढ़ते वक़्त कुछ ऐसे वाक़िआत भी याद आये जो उनके बयान किये हुए वाक़िआत से मिलते-जुलते थे. कुछ तज्रिबात जो शिद्दत से याद आये, उन्हें मुख़्तसरन लिख रहा हूं :

> *जब हमारे डेलीगेशन में इस पर बहस शुरू हुई, तो इन्द्रदीप सिन्हा ने स्टालिन के नाम पर बहस को ख़त्म करने की कोशिश की. मुझे याद है कि मैंने यही कहा था कि भाई, अगर सबसे बड़ी दलील यही है, तो हम दोनों हाथ खड़े करने को तैयार हैं, मगर बहस मज़्मून पर होनी चाहिए...*

ये पढ़ते वक़्त मुझे भी एक बहस याद आ गयी. उन दिनों इंटरनेशनल कम्युनिस्ट मूवमेंट का एक वीकली For A Lasting Peace for Peoples Democracy

कम्युनिस्टों के मुतालए में रहता था. उसमें एक बार कॉमरेड स्टालिन का एक मज़्मून Problems of Socialism in USSR उन्वान से शाए' हुआ. (शायद यही उन्वान था. अब ठीक से याद नहीं) जिसमें लिखा था कि मुस्तक़बिल में बड़ी लड़ाई कम्युनिस्ट मुल्कों और सरमायादार मुल्कों में नहीं होगी, बल्कि सरमायादार मुल्क आपस में मंडियों और कॉलोनियों की तक़्सीम के सिलसिले में लड़ेंगे. इस मौज़ू' पर सारे मुल्क में पार्टी की शाख़ों में ज़बरदस्त बहस हुई. हमारे सैल (नंगल टाउनशिप शाख़) में भी बहस हुई. हमारी ब्रांच की और इस मौज़ू' की अहमियत के मद्देनज़र पार्टी की प्रॉविंशल कमेटी के एक सीनियर मेम्बर वहां मौजूद थे. मुझे और हमारे कुछ और मेम्बरों को स्टालिन के इस स्टेंड से इख़्तिलाफ़ था. मगर इतने बड़े लीडर से अपने इख़्तिलाफ़ का इज़्हार करते हुए डरते भी थे. लेकिन 'We beg to differ' कहते हुए हमने अपना नज़रीया पेश कर दिया. हमारा ख़याल था कि अपने अंतर्विरोधों के बावजूद सरमायादार मुल्क आपस में नहीं लड़ेंगे, क्योंकि कम्युनिज़्म उनके सामने कॉमन दुश्मन है. छोटे-मोटे तनाज़े हो सकते हैं, लेकिन सरमायादार मुल्कों के लीडरों में इतनी समझ तो है कि वो अपनी एनर्जी आपसी झगड़ों में ख़र्च करने के बजाय कम्युनिज़्म के ख़िलाफ़ लड़ने के लिये रिज़र्व रखेंगे. हम पूरी तरह अपना नुक़्त-ए-नज़र पेश भी नहीं कर पाये थे कि सुबाई कमेटी के मेम्बर ने हमें ये कह कर ख़ामोश कर दिया कि दुन्या के तमाम मुल्कों की कम्युनिस्ट पार्टियों में इस मौज़ू' पर बहस हो चुकी है और एकमत से सबने कॉमरेड स्टालिन की बात की पुरज़ोर ताईद की है. आप अपने आप को क्या समझते हो? आपकी समझ उन सब से ज़ियाद: है? इसके बा'द सारे पंजाब में पार्टी हलक़ों में ये तंज़ किया जाता था कि नंगल के कुछ कॉमरेड हैं, जो कॉमरेड स्टालिन से भी इख़्तिलाफ़ रखते हैं. और हमारी हर जगह और हर बैठक में मज़ाक़ उड़ाया जाता रहा. ये सिलसिला सोवियत यूनियन की बीसवीं कांग्रेस में ख़ुश्चेव की तक़रीर के आ जाने तक चलता रहा.

मेरे गाइड ने बताया कि इस इलाक़े के लोग इस क़दर जज़्बाती होते थे कि एक दिन उनमें से जब एक नौजवान पार्टी की मेंबरशिप के लिए इंटरव्यू देने आया, तो उससे पूछा गया, "क्या तुम शराब पीना छोड़ दोगे?" उसने हामी भरी. "क्या तुम जवान लड़कियों के पीछे दौड़ना छोड़ दोगे?" उसने फिर सिर हिलाया. "क्या तुम पार्टी के लिये अपनी जान की बाज़ी लगा दोगे?" उसने बहुत ज़ोर से सर हिलाया.

इंटरव्यू कमेटी के मेम्बरान को शुब्ह हुआ—ये इतनी आसानी से पार्टी के लिये जान भी देने को कैसे तैयार हो गया! उनमें से एक ने पूछा, "आख़िर क्यों? पार्टी के लिये जान भी देने के लिये क्यों तैयार हो जाओगे?" वो जवान बड़ी उदासी से बोला, "इसके बाद ज़िंदा रहने के लिये क्या रह जायेगा?"

ये पढ़ कर मैं काफ़ी देर तक हंसता रहा, क्योंकि मुझे भी एक ऐसा वाक़िआ

याद आ गया था.

शुरू-शुरू में कॉमरेड पी.सी. जोशी के ज़माने में पार्टी के कुलवक़्ती कारकुन बहुत सादगी से रहते थे. ग़रीबी में गुज़ारा करते थे. पार्टी उनकी तनख़्वाह भी कम-से-कम तनख़्वाह पाने वाले मज़दूरों के बराबर देती थी और कॉमरेड भी हिंदुस्तान की त्याग और बलिदान की रवायतों का पालन करने में फ़ख़्र महसूस करते थे. ऐसे ही एक कुलवक़्ती कारकुन कॉमरेड घाटे थे. मर्कज़ी पार्टी के ख़ज़ांची थे और पार्टी कम्यून में ही रहते थे. एक बार ब्रितानिया की कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेटरी कॉमरेड हैरी पॉलिट हिंदुस्तान तशरीफ़ लाये. पार्टी ने उनकी मेज़बानी के लिये कॉमरेड घाटे की ड्यूटी लगा दी. कॉमरेड घाटे उनको खाना खिलाने के लिये किसी अच्छे रेस्टोरेंट में ले गये और वहां खाने से पहले उनके लिये ड्रिंक का आर्डर किया. जब ड्रिंक आया, कॉमरेड हैरी पॉलिट ने पूछा कि आपने अपने लिये ड्रिंक क्यों नहीं मंगवाया? इस पर कॉमरेड घाटे ने जवाब दिया कि मैं शराब नहीं पीता. इस पर उन्होंने फिर पूछा, 'Do you Smoke?' उन्होंने जवाब दिया–'सिगरेट भी नहीं पीता'. इस पर फ़ौरन कॉमरेड हैरी ने पूछ लिया, 'Are you married?' इसका भी घाटे ने इन्कार में जवाब दिया तो उनके मुंह से बेसाख़्ता ये जुम्ला निकला, 'Then what are you living for?'

मौलाना आज़ाद और डॉ. सय्यिद महमूद के बारे में भी उनकी राय हमारे नुक़्त-ए-नज़र के मुताबिक़ है. मुस्लिम लीग के बारे में भी उन्होंने जो लिखा है, हमारा भी वही नज़रीया है. आज़ादी से पहले 1945-47 में मैं गार्डन कॉलेज, रावलपिंडी में पढ़ता था. उस वक़्त सियासत की सूझबूझ कुछ ज़ियादः नहीं थी. मार्क्सिज़्म से थोड़ा बहुत ही परिचय था. कम्युनिस्ट पार्टी के दफ़्तर के बाहर बड़े-बड़े बैनर लगे होते थे, जिन पर लिखा होता था–'आज़ाद हिंदुस्तान में आज़ाद पाकिस्तान क़ायम करो, कांग्रेस-लीग एकता क़ायम करो, गांधी-जिन्ना मुलाक़ात कराओ'. हमारे दिमाग़ में ये सवाल ज़रूर आता था कि कम्युनिस्ट मुस्लिम लीग जैसी पार्टी की क्यों हिमायत करते हैं? और अगर पाकिस्तान आज़ाद मुल्क होगा, तो आज़ाद हिंदुस्तान में कैसे होगा? क्या मज़्हब के नाम पर मुल्क की तक़्सीम की हिमायत जाइज़ है?

कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ सोवियत यूनियन की बीसवीं सालगिरह में ख़्रुश्चोव की रिपोर्ट के छपने पर हम लोग भी उसी दुख, तकलीफ़ से गुज़रे जिससे अली अमजद साहिब गुज़रे. वैसे मैं पहले भी स्टालिन का इतना अक़ीदतमंद नहीं था जितना कि उस वक़्त के आम कम्युनिस्ट थे. जनाब अली अमजद साहिब ने लिखा है–

> *...कम्युनिस्टों ने 1953 में स्टालिन की मौत को अपने बाप, उस्ताद और नाक़ाबिले-फ़रामोश रहनुमा की मौत जाना, मगर थोड़े ही अर्से के बा'द सोवियत यूनियन से 'शख़्सियत परस्ती' की निंदा की ऐसी आवाज़ें आने लगी कि जिनका इशारा पहचानना मुश्किल न था. फिर बेरिया की मौत या क़त्ल की*

ख़बर आयी और उसकी जो तावीलें (बचाव की दलीलें) आयीं, वो इस तरह की थीं जो कभी ट्राइस और कभी बुख़ारिन के बारे में दी जाया करती थीं. ये बात मेरे समझ में कभी नहीं आयी कि जो शख़्स तहरीक के बुन्यादी रहनुमाओ में रहा हो, यकायक उसके बारे में कैसे पता चलता है कि वो तो हमेशा दुश्मनो से मिला हुआ या उनका एजेंट था. इस तरह की बातें न सिर्फ़ नाक़ाबिले-यकीन थीं, बल्कि उससे पूरी तहरीक और पार्टी के बाक़ी रहनुमाओं की वक़्अत मशकूक (संदेहास्पद) हो जाती थी. मगर ये शुकूक या एतिराज़ात दिल में उठ कर वहीं दबा लिये जाते हैं, तहरीक के बड़े हितों की ख़ातिर!

मुझ पर और मेरे कुछ क़रीबी साथियों पर स्टालिन के जादू का असर बीसवीं पार्टी कांग्रेस की रिपोर्ट के आने से पहले ही बहुत कम हो गया था. हुआ यूं कि कहीं से अमेरिकी पत्रकार रेडवर्ड (यही नाम था शायद) की किताब : Ten days that shook the world हमारे हाथ लग गयी थी. उस डायरीनुमा किताब में अक्टूबर-इंक़िलाब के उन दस दिनों की तारीख़वार रूदाद तफ़सील से दर्ज है. उस किताब को पढ़ने पर हम पर ये खुला कि उन दस दिनों में रूसी इंक़िलाबियों की क़ियादत (नेतृत्व) ट्रॉटस्की ही कर रहा था. वही उनका लीडर, गाइड और रहनुमा था, बल्कि उस इन्क़िलाब का सब कुछ था. उस किताब में लेनिन और स्टालिन का कहीं ज़िक्र नहीं था. रूस को इन्क़िलाब के लिये तैयार भले ही लेनिन ने किया हो, लेकिन इन्क़िलाब के उन दस दिनों में इन्क़िलाबियों की क़ियादत ट्रॉटस्की ही कर रहा था और सारे अहम फ़ैसले भी वही कर रहा था. उसने निहायत कामयाबी के साथ उन दिनों में इन्क़िलाबियों की क़ियादत की. इन्क़िलाब के बा'द भी (1917-1924) लेनिन की वफ़ात तक ट्रॉटस्की कॉमरेड लेनिन के सहायक के तौर पर काम करता रहा. फिर हम कैसे मान लें कि लेनिन की वफ़ात के बा'द वो पार्टी और मुल्क का दुश्मन बन गया! जिस शख़्स ने ख़ुद इन्क़िलाब की क़ियादत करके उसे कामयाबी तक पहुंचाया हो, वो ख़ुद ही बा'द में उस इन्क़िलाब के ख़िलाफ़ क्योंकर हो सकता है! चलो, ये मान भी लेते हैं कि आइडियोलॉजी में उसका पार्टी की अक्सरीयत से मतभेद हो गया था, तो ठीक है, उसे पार्टी से निकाल दिया गया. लेकिन उसे जलावतन करने का क्या जवाज़ (औचित्य) था? उस पर मुल्क व क़ौम से ग़द्दारी का इल्ज़ाम लगा कर उसे मुल्क बदर करना हमारे गले से नहीं उतरता. फ़र्ज़ कर लीजिये कि इस इल्ज़ाम में कुछ रत्ती भर सच्चाई भी थी, तो उस पर मुल्क की अदालत में मुक़द्दमा चला कर क़ैद की सज़ा क्यों नहीं दी गयी! उसे जलावतन कर दिया गया और बा'द में मशकूक हालात में उसका क़त्ल भी हो गया. उन दस दिनों में इन्क़िलाबियों का अकेला लीडर होने के बावजूद उस पर ये इल्ज़ाम लगाया गया कि वो सरमायादारों का एजेंट है. सारी सच्चाई की नये सिरे से खोज होनी चाहिये.

जनाब अली अमजद की तरह ही वो ज़माना मेरे लिये भी बड़ी तकलीफ़ और आज़माइश का ज़माना था. मैं उस माहौल से कहीं दूर चला जाना चाहता था. चुनांचे भिलाई स्टील प्लांट में नौकरी मिलने से मेरी कशमकश का अपने आप ख़ात्मा हो गया. मैं पंजाब से बहुत दूर मध्य प्रदेश (हाल छत्तीसगढ़) में पहुंच गया. उसका ये भी फ़ाइदा हुआ कि मेरी बीवी जो कुछ घरेलू मतभेदों की वज्ह से बहुत दूर इतने बरसों से शिलांग (आसाम) में सर्विस करती थी, अपनी सर्विस छोड़कर मेरे पास चली आयी. उसके बा'द स्टील इंडस्ट्री की सख़्त ज़ेह्नी और जिस्मानी मेहनत वाली सर्विस और कुछ घरेलू झमेलों में ऐसा उलझा कि कई बरसों तक सियासत और किसी आइडियोलॉजी का ख़याल तक दिलो-दिमाग़ से दूर हो गया. उस दौर में रोज़ाना अख़बार के इलावा और किसी क़िस्म का लिखना-पढ़ना भी नहीं हो सका. संजीदगी से लिखना-पढ़ना भी सर्विस से 1985 में रिटायर होने के बा'द शुरू किया. 1999 तक वहीं भिलाई में रहा. उसके बा'द देहली और फिर गुड़गांव मुंतक़िल हो गया.

किताब में 'मास्को और बहरे-ज़ुल्मात' वाला बाब पढ़ते वक़्त मुझे मर्हूम ज़ोय अन्सारी का बिस्तरे-मर्ग पर दिया हुआ इंटरव्यू याद आ गया जो उर्दू 'ब्लिट्ज़' में शाए' हुआ था. नामानिगार ने लिखा था–'आँखों में आंसू लिये हुए इंतिहाई तकलीफ़ और दुख के साथ जनाब ज़ोय अन्सारी ने कहा था–सारी उम्र जिस तरफ़ रुख़ करके नमाज़ पढ़ते रहे, जब वाक़िई मैं उस मक़ाम पर पहुंचा, तो देखा कि वहां ख़ाना-क़ाबा ही नहीं था. उनकी इस तहरीर के साथ मैं बराबर का शरीक हूं :

ये वाक़िई एक तारीख़ी अल्मीया था जो बदक़िस्मती से हम जैसे लोगों की ज़ाती ज़िंदगियों का अल्मीया बन गया, जो ज़ेह्नों के लिये ऐसी बेचैनी और रूह की कचोट बन गया जिसकी मिसाल किसी और ग़म से नहीं दी जा सकती थी. कमोबेश पूरी एक सदी पर छायी सैंकड़ों, हज़ारों, लाखों इंसानी ज़ेह्नों की, उनकी रूह की, उनकी तमन्नाओं और उनके एहसासात की तर्जुमानी करने वाली आलमी तहरीक गशी की हालत में मुब्तला थी जो अपनी जगह इंसानी क़द्रों की आलातरीन ऊंचाइयों की तारीख़ थी, जिसका यक़ीन था कि इंसान के ख़मीर में नेकी, बेग़रज़ी और मुहब्बत ही अस्ल है और जो बुराइयां हैं, वो समाज के ग़लत रवैयों की वज्ह से है जिसे ख़त्म करने के लिये ऊंच-नीच को ख़त्म करना काफ़ी है.

सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस का एक फ़ौरी असर ये हुआ था कि पौलेंड की कम्युनिस्ट पार्टी की क़ियादत जो 1939 में स्टालिन के हुक्म पर इस इल्ज़ाम में धराशायी कर दी गयी थी कि उसने जर्मनी की ख़ुफ़िया एजेंसियों के हित में काम किया था. उसे मौत के बा'द इन इल्ज़ामों से बरी कर दिया गया. 1956 के मार्च में पौलेंड की कौंसिल ऑफ़ कल्चर एंड आर्ट्स के 19वें इज्लास के ऐलान में कहा गया कि बात सिर्फ़ एक फ़र्द की नहीं, बल्कि एक पूरे निज़ाम की

थी जिसमें एक शख़्स को ऐसे गुनाह करने की छूट थी.

यही बात इटली की कम्युनिस्ट पार्टी के बुज़ुर्ग रहनुमा तोगिलयाती ने भी कही थी, मगर पच्चीस बरसों तक उन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया. हम लोगों की आवाज़ें जंगल की आवाज़ साबित हुईं, मगर जब सारी इमारत ताश के पत्तों की तरह ढेर हो गयी, उस वक़्त मा'लूम हुआ कि अब बहुत देर हो चुकी थी...

कभी-कभी सोचता हूं, दुन्या के हज़ारों, लाखों जियालों ने जिस मक़्सद और आइडियल को पाने के लिये अपनी जानें क़ुर्बान कीं, क्या वो 'सराब' (मृग मरीचिका) ही था! अमली तौर कभी हासिल नहीं होगा. हक़ीक़त में वो मुम्किन है कि नहीं? चेकोस्लावेकिया के कॉमरेड जूलियस मेनवेचिक, जिन्हें नाज़ियों ने टॉर्चर करके मार डाला था, उनके ख़तों की किताब From the Gallows शाए' हुई थी. उसका पहला जुम्ला था–We, the communists love life so much that we are always ready to sacrifice our lives for other's better life.

पचास, साठ साल पहले मैंने एक किताब पढ़ी थी जिसका उन्वान था Unfinished Revolution in China. ये 1946 में शाए' हुई थी. उसका इंतिसाब था (नीचे दिये नामों में डॉ. द्वारकानाथ का भी नाम था) To all those comrades who did not come from the same origin but gave their lives looking forward.

क्या ये दुन्या नयी सदी में नयी करवट ले सकेगी, जैसा कि जनाब अली अमजद ने उम्मीद ज़ाहिर की है? क्या उन हज़ारों, लाखों जियाले नौजवानों के ख़्वाब, जिनके लिये लोगों ने ईरान और इंडोनेशिया, लैटिन अमेरिका और बाक़ी मुल्कों में सुनहरे मुस्तक़बिल की उम्मीद में अपनी जानें गवायीं, कभी पूरे नहीं हो सकेंगे? क्या वो सुब्ह कभी नहीं आयेगी?

मैं भी आज इन सवालों के जवाब ढूंढ़ रहा हूं. ❑

(उर्दूनामा–245, 19-3-06, उर्दू मर्क़ज़ अजीमाबाद, 247 एमआईजी, लोहिया नगर, पटना)



इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में सकुचाए प्रेमचंद

फ़ज़ल इमाम मल्लिक

सुबह ही सुबह कमरे के दरवाज़े पर हुई दस्तक. रात देर से सोया था. रात की पाली की ड्यूटी के बाद सोते-सोते तीन बज ही जाते हैं. इसलिये सवेरे-सवेरे दरवाज़े पर हुई दस्तक से झल्लाहट भी हुई. आख़िर इतने सवेरे कौन वारिद हो गया! घड़ी देखी तो सात बजे रहे थे. नींद अभी पूरी नहीं हो पाई थी. नींद का ख़ुमार पूरे तौर पर था. देर से सोने की वजह से अक्सर देर से उठने की अजब-सी आदत बन गई है. इसलिये दरवाज़े पर दस्तक से बेतरह खीज हुई. नींद की मिली-जुली क़ैफ़ियत से अभी बाहर निकला भी नहीं था कि दस्तक फिर हुई. बिस्तर पर पड़े-पड़े ही पूछा–'कौन?'

बाहर से आवाज़ आई–'प्रेमचंद.'

ज़ेहन पर बहुत ज़ोर डाला, लेकिन किसी भी कोने से उन प्रेमचंद की तस्वीर नहीं उभरी जिन्हें मैं जानता होऊं. गांव-घर के लोगों की तरफ़ भी ज़ेहन को दौड़ाया, लेकिन प्रेमचंद नाम का कोई व्यक्ति ध्यान में नहीं आया. फिर यह कौन प्रेमचंद हैं जो सुबह-सुबह वारिद हो गए हैं. घर आए मेहमान को देर तक बाहर खड़ा रखने का संस्कार मुझे नहीं मिला, इसलिए नींद की मिली-जुली क़ैफ़ियत के साथ दरवाज़ा खोला. देर से सोने की वजह से सुबह-सुबह उठने से खीज भी हो रही थी.

दरवाज़े पर धोती-कुर्ता पहने जो शख़्स खड़े दिखे, उनका चेहरा कुछ-कुछ जाना-पहचाना लगा. फिर भी याद नहीं आ रहा था कि उनसे कब, कहां और कैसे मुलाक़ात हुई थी. थोड़ी झिझक, थोड़ी परेशानी हुई. अचानक ही भक से मेरे अंदर एक कौंदा लपका और नींद का ख़ुमार ग़ायब हो गया. दरवाजे पर कथा सम्राट प्रेमचंद थे...बेयक़ीनी की मिलीजुली क़ैफ़ियत मुझ पर तारी थी...लेकिन यह सच था...'मुंशीजी आप... ?' मेरे मुंह से बेइख़्तियार निकला...

'हां...क्यों...मैं क्या यहां नहीं आ सकता...अब दरवाज़े पर ही खड़े रहोगे या

अंदर भी आने को कहोगे...'प्रेमचंद ने प्यार से झिड़की दी.

मैंने जल्दी से उन्हें अंदर आने के लिए रास्ता दिया. कमरा हमेशा की तरह बेतर्तीब पसरा था...किताबें-पत्रिकाएं इधर-उधर फैली थीं...कपड़े भी सलीक़े से नहीं रखे थे...जल्दी-जल्दी किताबों-पत्रिकाओं को तर्तीब दिया...कपड़ों को खूंटियों पर टांगा. तब तक प्रेमचंद बिस्तर पर बैठ गए थे. कमरे में ज़मीन पर ही बिस्तर बिछा था. कुर्सियां कमरे में नहीं थीं. फ़र्श पर सोने का अपना आनंद है, इसलिए पलंग ले नहीं पाया. प्रेमचंद ने इधर-उधर देखा...इतनी देर में कमरा ठीक-ठाक लगने लगा था.

कमरे को ठीक-ठाक करने के बाद मैं प्रेमचंद के पास आकर बैठ गया. ख़ामोशी मैंने ही तोड़ी. कैसे आना हुआ...?

तुमने सुना होगा कि इस साल मेरी 125वीं जयंती मनाई जा रही है. तरह-तरह के आयोजन हो रहे हैं. यहां कोई संस्था है साहित्य अकादमी...तुम जानते हो...कैसी संस्था है और क्या करती है...? वे मुझसे पूछते हैं.

मुझे याद आया प्रेमचंद के ज़माने में साहित्य अकादमी का वुजूद भी नहीं था. उनका उसकी जानकारी लेना सहज ही था. मैंने कहा कि अकादमी देश में भारतीय साहित्य के प्रचार-प्रसार में लगी है. हर साल साहित्यकारों और अनुवादकों को पुरस्कार देती है और तमाम भारतीय भाषाओं के लेखकों पर जलसे करती है...किताबें छापती है...अनुवाद करवाती है और भी बहुत कुछ करती है, पर कुछेक के लिए ही...

लेकिन बनारस में तो कोई कह रहा था कि साहित्य के प्रचार-प्रसार से ज़्यादा यहां अपना प्रचार-प्रसार ज़्यादा होता है. ख़ैर...मुझे क्या लेना-देना... साहित्य अकादमी यहां कोई आयोजन कर रही है, उसमें मुझे भी न्यौता है. बहुत दिनों से दिल्ली नहीं *आया था* इसलिए चला *आया*. देखो पत्र में लिखा है कि आने-जाने का हवाई जहाज़ का किराया देंगे और रहने-ठहरने का भी इंतिज़ाम करेंगे. लेकिन मैं हवाई जहाज़ के चक्कर में नहीं पड़ा...मुग़लसराय से तूफ़ान मेल पकड़ कर सीधा चला आ रहा हूं. हवाई जहाज़ पर चढ़ने में कोई दिलचस्पी नहीं है. तुम तो जानते ही हो, जीवन भर तो इन सब के लिए कभी सोचा ही नहीं, अब हवाई जहाज़ पर चढ़ूंगा तो लोग कहेंगे कि प्रेमचंद लिखता कुछ है और करता कुछ है. मुझे तो ट्रेन से ही आना जंचा नहीं जंचा, सो जनरल क्लास में दिल्ली चला आया.

लेकिन मुंशीजी आपको मेरा पता किसने दिया? आपको तो देश के सारे बड़े लेखक जानते-पहचानते हैं. आपको तो उन लेखकों के यहां सबसे पहले जाना चाहिए था. नामवर सिंह हैं...अशोक वाजपेयी हैं...केदारनाथसिंह हैं...मैत्रेयी पुष्पा हैं...गोपीचंद नारंग हैं...फिर राजेंद्र यादव हैं...वही राजेंद्र यादव जो आपकी ही पत्रिका 'हंस' निकाल रहे हैं. इनके अलावा भी दिल्ली में हिंदी-उर्दू के कई नामचीं लेखक हैं...जिन्हें आप भी जानते होंगे क्योंकि वे अक्सर आपका ज़िक्र करते हैं...

उन सबसे से तो मिलना होता ही है. इस बार तुम्हारे पास ही ठहरने का मन बना सो चला आया. तुम्हें मेरा आना ठीक नहीं लगा क्या... ?

कैसी बात कह रहे हैं आप... आप का आना और ख़राब लगे...वैसे भी मेहमानों का स्वागत करना हमारे संस्कारों में है...पर मेरा पता... !

तुम्हारा पता मुग़लसराय में तुम्हारे दोस्तों ने दिया...मुग़लसराय में रंगकर्मी सुरूर अली अंसारी और कथाकार रामदेव सिंह से मुलाक़ात हुई थी. दिल्ली आने की बात कही थी. उन्होंने तुम्हारे बारे में बताया...उन्होंने ही तुम्हारा पता भी बताया...

लेकिन आपको जिस सम्मेलन के लिए साहित्य अकादमी वालों ने बुलाया है, वहां हवाई जहाज़ से आने-जाने के किराये के अलावा रहने-ठहरने और खाने-पीने का भी उम्दा इंतिज़ाम है. फिर वहां तो देश ही नहीं, विदेश से भी आपको जानने वाले पहुंचने को हैं...उनके बीच रहते तो ज़ियादः अच्छा नहीं होता...

नहीं...तुम्हारे पास रहने का एक अलग सुख मुझे मिलेगा. अधिक शहरी तामझाम से मैं बहुत घबराता हूं. मुझे तुम्हारे साथ आने-जाने में ज़ियादः सहूलियत भी रहेगी...फिर तुम्हें जगह-ठिकाने की जानकारी होगी...यह सब सोच कर तुम्हारे पास आया...

पर यहाँ पहुंचने में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई...मुझे पहले ख़बर कर देते तो मैं ही स्टेशन आ जाता.

नहीं कोई तकलीफ़ नहीं हुई...सुरूर ने बस नंबर और उतरने की जगह बता दी थी...इसलिए आराम से तुम्हारे पास पहुंच गया...हां एक दुर्घटना ज़रूर हुई...दिल्ली वालों ने मेरी जेब काट ली. कंडक्टर को पैसा देने के बाद जो भी नक़दी जेब में पड़ी थी, किसी ने उड़ा ली...

प्रेमचंद इतना कह कर मुस्कराए...फिर आगे कहा, 'दिल्ली का यह अनुभव नया नहीं है...पता नहीं कौन-कब किस भेस में आए और सब कुछ ले उड़े...बड़े शहरों की यही लीला है प्यारे...'

मैंने कहा—जाने दीजिए, अब मुंह-हाथ धो लें...नहाने की इच्छा हो तो नहा लें.—वे उठे तो मैं उन्हें बाथरूम तक छोड़ आया. उनके तैयार होने से पहले मैंने चाय बना ली थी. घर में कुछ बिस्कुट पड़े थे. चाय लेकर आया तो देखा प्रेमचंद कमरे में बिखरी किताबों व पत्रिकाओं को उलट-पुलट रहे हैं. हिंदी और उर्दू की कई पत्रिकाएं बिस्तर पर एक किनारे थीं. हिंदी पत्रिकाओं में 'शेष', 'पाठ', 'संबोधन', 'अक्षर पर्व', 'पुनर्नवा', 'लोकायत', 'हंस', 'सनद' और उर्दू की पत्रिकाओं में 'आजकल', 'नक़्क़ाद', 'ख़बरनामा', 'उर्दूनामा' के नये अंक ही थे. हिमांशु जोशी का कहानी संग्रह 'सागर तट के शहर', जाबिर हुसैन का 'लोगां', नासिरा शर्मा का 'कुइंयाजान' सुषमा जगमोहन का 'ज़िंदगी ई-मेल', प्रेमपाल शर्मा का संग्रह 'अजगर करे न चाकरी', आलम ख़ुर्शीद की ग़ज़लों का मजमूआ 'एक दरिया ख़्वाबों में' और जिते ठाकुर का कहानी संग्रह

'आधा सच, आधा झूठ' सामने था. मुझे देखकर उनके होंठों पर एक मुस्कराहट फैली, चलो अच्छी बात है किताबों से तुम्हारा सरोकार बना हुआ है, वर्ना आज के दौर में पढ़ने की फ़ुर्सत भला किसे है...

बिस्कुट उनके सामने रख कर उन्हें चाय देता हूं. चाय के साथ बातों का सिलसिला वे आगे बढ़ाते हैं. पत्रिकाओं की सामग्री और रंग-रूप देखकर वे ख़ुश होते हैं. बातचीत पत्रिकाओं पर ही केंद्रित रहती है. पत्रिकाओं के अंक देखने के बाद प्रेचमंद ने किताबों को हाथ लगाया. बीच-बीच में चाय की चुस्की वे लेते रहे. पत्रिकाओं की कुछ रचनाएं उन्होंने पढ़ी भी. 'नक़्क़ाद', 'उर्दूनामा', 'पाठ', 'शेष' की ख़ासतौर से तारीफ़ की. प्रेमचंद ने कहा कि इनमें छपी रचनाएं अपने ज़माने और लोगों की सोच बताती हैं.

मैंने पूछा–इधर जो कहानियां लिखी जा रही हैं, उस पर आप क्या सोचते हैं?

हिंदी हो या उर्दू अच्छी कहानियां नहीं लिखी जा रही हैं. एक ख़ास तरह की फ़ैंटेसी के अलावा जिस्म की भूल-भुलैयां वाली दुनिया आज की कहानियों में है जिससे आम पाठकों का बहुत लेना-देना नहीं है. कुछ ख़ास के लिए इन कहानियों का महत्त्व हो सकता है. लेकिन एक बड़े और व्यापक समाज में ये कहानियां जुड़ती हैं ऐसा मुझे नहीं लगता. आख़िर औरत-मर्द के संबंधों के अलावा भी ऐसी बहुत सारी बातें हैं, जिन पर कहानियां बनती हैं. लेकिन अधिकांश कहानीकारों को आजकल ऐसी कहानियों को लिखने का ख़ब्त सवार है जहां वे औरत की देह से बाहर की नहीं सोचते. शायद बड़ी आसानी से लिखा जा सकता है. फिर अख़बारों व पत्र-पत्रिकाओं में बैठे अपने नुमाइंदों के ज़रिए वे बहस छेड़ते हैं. विवाद खड़ा कर चर्चित होने का शॉर्टकट रास्ता उन्हें मिल गया है. लेकिन उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऐसी कहानियां पाठकों पर वे एक ख़ास समय तक ही अपना प्रभाव छोड़ पाएंगी. देर तक उन रचनाओं का प्रभाव नहीं रहता है.

दिल्ली से दूर छोटी जगहों के कहानीकार कहीं अच्छी कहानियां लिख रहे हैं. महानगरों में रहने वाले तो साहित्य की राजनीति कर अपना ख़ेमा-खूंटा चमकाने में लगे रहते हैं. कहने वाले तो यह कहते हैं कि ऐसी बात कही जाती रही है कि हमारे ज़माने में होड़ कम थी, लिखने वाले कम थे, इसलिए हमें ज़्यादा संघर्ष नहीं करना पड़ा. लेकिन हमें जिस तरह का संघर्ष करना पड़ा वह आज के लेखकों को नहीं करना पड़ रहा है. रही बात मुक़ाबले की तो, कहानियों का आज जो स्तर है, उसमें ऐसी होड़ किस काम की! होड़ आज इस बात की है, कौन कितना ख़राब लिखता है...औरत-मर्द के संबंधों को कौन कितना खोल कर सामने रखता है...ख़बरों में बने रहने के लिए साहित्यकार ख़ुद को ख़बर बनाते हैं और फिर चटख़ारा लेते हैं...हमारे ज़माने में ऐसा नहीं था. हमारे ज़माने में होड़ थी...अच्छा लिखने की. अब वह नहीं

है. अब होड़ लेखकों के निजी जीवन में झांकने की है, ख़ेमेबंदियां हैं और ख़ुद को ख़लीफ़ा समझने की ख़ुशफ़हमी. कहानियों से गांव, किसान, मज़दूर ही नहीं, घर-परिवार और समाज ग़ायब होता जा रहा है. आज देश-दुनिया पर ज़िंदगी जीने का दबाव. मज़हब, भाषा, रूप-रंग, ग़रीब-अमीर आदि ख़ानों में इंसान बांट दिया गया है, जबकि कहानी बेडरूमों तक सिमटती जा रही है. लेखक आज 'बड़ा' होता जा रहा है जबकि 'लेखन' छोटा. साहित्य पर इससे संकट बढ़ा है. प्रेमचंद बोले जा रहे थे. उनकी आवाज़ में पीड़ा थी. अच्छा साहित्य न लिखे जाने की पीड़ा...पाठकों से सरोकार न रख पाने की पीड़ा...रचनाओं से घर, समाज और परिवार के ग़ायब होने की पीड़ा...

प्रेमचंद की पीड़ा को मैं अपने भीतर बूंद-बूंद उतरता हुआ महसूस कर रहा था...थोड़ी देर की चुप्पी के बाद उनसे पूछा... 'आपको तो पता ही होगा हाल ही में आपको दलित विरोधी घोषित कर कुछ लोगों ने आपकी किताबें जलाईं और कुछ ने तो आपको सामंतों का मुंशी' भी कह डाला... ? आपको यह सब सुन-पढ़ कर कैसा लगा... ?'

प्रेमचंद ने ठहाका लगाया...देखो इस तरह का विरोध कोई नहीं बात नहीं है. पहले भी विरोध होता रहा है, आज भी होता है. लेकिन किताबों को जलाने से न तो शब्द जलते हैं और न विचार. जब तक शब्द और विचार रहेंगे, आदमी ज़िंदा रहेगा. जो भी किताबों को जलाते हैं, वे न सिर्फ़ अपनी विरासत और संस्कृति का अपमान करते हैं, बल्कि शब्दों का भी अपमान करते हैं. इससे न मेरा कुछ नुक़्सान होगा और न मेरे पाठकों का. नुक़्सान उनका होगा जो किताबों को जला कर समझते हैं कि उन्होंने विचारों को जला डाला. ऐसे लोगों के लिए भी मैं यही दुआ करूंगा कि, ख़ुदा उन्हें शब्दों को समझने की तमीज़ दे ताकि वे ऐसा कुछ न करें जिससे आने वाली पीढ़ियां यह सोच कर ही शर्मिंदा हों कि हमारी पुरखों ने जो रचा उससे एक ग़लत परंपरा की शुरूआत हुई. रही बात मुझे सामंतों का मुंशी कहने की तो यह भी उसी कुंठित मानसिकता का दूसरा रूप है.

आज दलितों की परिभाषा कितनी बदल गई है, हमारी राजनीतिक व्यवस्था में इसे देखा जा सकता है. रामविलास पासवान हों या मायावती या दूसरे लोग, अब तो ये नाम के ही दलित हैं. दलितों का मसीहा बनने का जो दावा कर रहे हैं वे ख़ुद सामंतों की तरह अपने ही भाई-बंद दलितों का शोषण कर रहे हैं. यह सिर्फ़ राजनीति में ही नहीं हो रहा है, साहित्य में भी हो रहा है. दलितों के नाम पर ही कुछ लोग साहित्यकार बन बैठे हैं. वे नहीं चाहते हैं कि कोई दूसरा दलित साहित्यकार उनसे आगे निकल जाए. इसके लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाए जाते हैं. मैं तो साहित्य में 'दलित' शब्द के इस्तेमाल को ही सही नहीं मानता हूं. दलित यानी ग़रीब और कमज़ोर

होना है. पहले भी ताक़त और पैसे से जो कमज़ोर थे, उन्हें दबाया जाता था, आज भी ऐसा हो रहा है.

प्रेमचंद कुछ देर के लिए रुकते हैं. फिर पास ही पड़ी उर्दू की पत्रिका 'नक़्क़ाद' को उलटने लगते हैं. मैं उनसे माफ़ी मांग कर नित्यकर्म निपटाने में जुटता हूं. पर दिमाग़ में गूंजती रहती हैं प्रेमचंद की बातें.

तभी मुझे जाबिर हुसैन की याद आ जाती है. दो साल पहले नालंदा के ज़िला शिक्षा अधिकारी ने एक शिक्षक को बना किसी कुसूर के निलंबित कर दिया था. शिक्षक मुसलमान था और अधिकारी दलित. अधिकारी के फ़ैसले के ख़िलाफ़ शिक्षक कोर्ट चले गए. अदालत ने उनके पक्ष को सुना और उनके हक़ में फैसला दे दिया, बल्कि उन्हें तरक़्क़ी और दूसरी सुविधाएं भी देने को कहा, लेकिन ज़िला शिक्षा अधिकारी ने अदालत के आदेश को मानने से इंकार कर दिया. उसने शिक्षक से कहा था—मेरे पुरखे तो मुर्दा जानवरों का चाम उतारते थे. मैं ज़िंदा इंसानों का चाम उतारता हूं. जिस शिक्षक से यह बात कही गई थी वह सवर्ण नहीं थे. उनका ताल्लुक़ अंसारी बिरादरी से था. पर ज़िला शिक्षा अधिकारी के भीतर कहीं कोई कुंठा थी और वे एक ही लाठी से सबको हांक रहे थे. उस अधिकारी ने उन्हें इतना तंग किया कि उनकी हालत पागलों जैसी हो गई. इस बीच अधिकारी के ख़िलाफ़ कुछ लोगों ने पटना हाई कोर्ट में याचिका दायर कर दी और लंबी ज़िद्दोजहद के बाद अदालत ने ज़िला अधिकारी के ख़िलाफ़ कार्रवाई कर असहाय शिक्षक के साथ न्याय किया था.

मेरे मित्र हैं शंकर आज़ाद. उनका ताल्लुक़ राजनीति से है और ढेरों विधायकों व मंत्रियों से उनका याराना है. केंद्र सरकार के एक मंत्री का क़िस्सा उन्होंने सुनाया. मंत्री का ताल्लुक़ पिछड़ी जाति से है. लेकिन जिस इलाक़े से वे आते हैं, वहां उनकी स्थिति दलितों की थी. उनके पुरखों के साथ भी सवर्णों का व्यवहार ठीक नहीं था. लेकिन राजनीति में आज शिखर पर हैं तो वे अपनी कुंठा को जग-जाहिर करते रहते हैं. शंकर ने बताया था कि वे महंगा से महंगा क्रीम ख़रीद कर लाते हैं और अपने चंपुओं से कहते हैं कि इसे मेरे पांव में लगाओ. सुनते हैं कि बड़का लोग इसे मुंह में लगाता है. वह सब मुंह में लगाता है, तो हम इसे पैर में लगाएंगे. शंकर ने यह भी बताया था कि वे महंगे परफ़्यूम लाते हैं और जांघों के बीच छिड़कते हैं. वे अपनी भड़ास भी निकालते रहते हैं. शंकर ने ऐसी ही कुछ और घटनाएं भी बताईं जो दरअस्ल उन लोगों की कुंठा को सामने रखता है.

प्रेमचंद की किताबों की होली जलाने वाले या उन्हें 'सामंतों की मुंशी' कहने वाले रामविलास पासवान या मायावती को कठघरे में क्यों नहीं खड़ा करते हैं जो दलितों में सिर्फ भावनाएं भड़का कर दलितों को अपना बनाते हैं और शोषण करते रहते हैं. इन लोगों ने दलितों को कितनी शिक्षा दिलाई और कितना रोज़गार दिलाया?

राजनीति में ही नहीं, साहित्य में भी दलित का अर्थ बदल गया है.

कथाकार मित्र रूपनारायण सोनकर की मिसाल मेरे सामने है. 'ऊंची पहुंच वाले' दलित साहित्यकारों ने रूपनारायण सोनकर की कहानी को एक पत्रिका में छपने नहीं दिया. बात यहीं नहीं थमी. रूपनारायण सोनकर की कथा पुस्तक के विमोचन का समाचार कई पत्र-पत्रिकाओं में 'एक वरिष्ठ दलित' साहित्यकार ने छपने नहीं दिया. उन्होंने परिचितों को फ़ोन से समाचार या रपट को प्रकाशित करने से मना कराया. रूपनारायण सोनकर देहरादून में रहते हैं. दिल्ली में अपने पुस्तक के विमोचन कार्यक्रम की जानकारी देहरादून के अपने मित्रों को भी उन्होंने नहीं दी थी. उन्हें आशंका थी कि अगर विमोचन की बात लोगों को पता चली, तो देहरादून में ही रहने वाले वरिष्ठ साहित्यकार लोगों को उसमें आने से रोक सकते हैं. रूपनारायण सोनकर की पीड़ा उनकी आंखों में देखी जा सकती है.

लौटा, देखा वे अब भी कुछ पढ़ने में मशग़ूल हैं. 'नक़्क़ाद', 'उर्दूनामा', 'सनद', 'शेष' को वे उलट-पुलट चुके थे. अब हाथ में जाबिर हुसैन की पुस्तक 'जो आगे है', हिमांशु जोशी का संग्रह 'सागर तट के किनारे', शाज़ी ज़मां का उपन्यास 'प्रेम गली अति संकरी', मुशर्रफ आलम ज़ौक़ी का उपन्यास 'पोकोमान की दुनिया', प्रेमलाल शर्मा के कहानी संग्रह 'अजगर करे न चाकरी', आलम ख़ुर्शीद की ग़ज़लों का संग्रह 'एक दरिया ख़्वाबों में' और किरण अग्रवाल के काव्य संग्रह 'गोल-गोल घूमती नाव' को उठाते हैं. इधर-उधर से कुछ पढ़ते हैं. मुझे देखकर मुस्कराते हैं.

अचानक घड़ी पर नज़र डाली. आठ बजा था. हमारे पास अभी दो घंटे बाक़ी थे. कार्यक्रम 11 बजे शुरू होना था. प्रेमचंद किताबों में खोए थे. मैंने उनसे कहा, चाहें तो थोड़ी देर के लिए आराम कर लें.

प्रेमचंद मुस्कराए कहा, आराम ही तो कर रहा हूं. तुम्हारे पास अच्छी किताबें और रिसाले हैं. पढ़ने का संस्कार तुमने अभी भी बचा रखा है, यह अच्छी बात है, वर्ना आज तो लोगों के पास पढ़ने का समय ही नहीं है. नई पीढ़ी को किताबों से दिलचस्पी नहीं रह गई है. पत्रकारिता में आए बदलाव से अख़बारों में भी ऐसे प्रयोग हो रहे हैं कि दिमाग़ चकराने लगता है. हैरत की बात तो यह है कि भाषा अंग्रेज़ी के साथ खिचड़ी बन रही है. कहां, कौन-से शब्द का इस्तेमाल होगा, लोग नहीं जानते. मुझे तो हैरत होती है. आख़िर यह जो नई भाषा गढ़ी जा रही है, वह हमें कहां ले जाकर छोड़ेगी?

मैंने पूछा–'आपने कभी आलोचकों की परवाह की?'

उनके होंठों पर मुस्कराहट उभरती है...एक बात बताता हूं, मैंने आलोचकों के लिए कभी रचना नहीं की. आलोचक बाय प्रोडक्ट तैयार करता है. उसके पास असली माल नहीं होता. वह तो हम रचनाकारों के माल को मार कर अपना माल तैयार करता

है. मेरे लिए मेरे पाठक ही आलोचक रहे. आलोचकों का दबदबा मैंने कभी स्वीकार नहीं किया. उनके पास अपना हो तो उनके कहे या लिखे पर सोचा भी जाए, लेकिन जब उनके पास हमारा ही माल हो तो फिर उनसे आतंकित होने की क्या ज़रूरत! हालांकि स्वस्थ आलोचना का मैं बराबर सम्मान करता हूं, लेकिन आज आलोचना तो मुंह देख कर और संबंधों के बुनियाद पर हो रही है, तो भला तुम ही बताओ क्यों और किसलिए आलोचकों की परवाह करूं या उनकी गाइड लाइन के मुताबिक़ लिखूं. मेरा पाठक अगर मुझे मानता है तो फिर मुझे किसी आलोचक से प्रमाण-पत्र लेने की ज़रूरत न तब महसूस हुई थी और न अब.

मैंने कहा—अब समय हो चला है. ख़ासा दूर हो रहा है जलसा, हमें निकलना चाहिए...आप तैयार हो लें. प्रेमचंद मुझसे सहमत दिखे...उनकी आंखों में नींद का ख़ुमार था. उनके तैयार होने में पांच-सात मिनट तो लगता ही, इसलिए मैंने चाय बनाने का फ़ैसला कर लिया था. उनके तैयार होते-होते मैं चाय बनाकर ले आया. चाय देख कर वे मुस्कराए फिर हौले से कहा—सचमुच चाय की बड़ी तलब लगी थी...अच्छा किया कि तुम बना लाए.

चाय पीते ही कमरे में ताला लगा कर हम इंडिया इंटरनेशनल सेंटर जाने के लिए निकले. नोएडा से इंडिया इंटरनेशनल सेंटर तक के लिए कोई सीधी बस नहीं थी. मैंने सोचा कि ऑटो कर लिया जाए तो मुनासिब रहेगा. लेकिन प्रेमचंद ने रोक दिया. कहने लगे, बस से ही चलते हैं...बस से सफ़र का अलग मज़ा है. मैंने ऑटो लेने पर ज़ोर दिया, लेकिन वे नहीं माने. बसों के धक्के खाते हुए इंडिया इंटरनेशनल सेंटर पहुंचे. दो बसें बदलने के बावजूद समय से हम समारोह स्थल पर पहुंच गए.

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर की भव्यता और बाहर देशी-विदेशी कारों की क़तार देखकर प्रेमचंद अचकचा गए. उनके चेहरे पर लिखी इबारत पढ़ कर कोई भी बता सकता था कि वे परेशान हैं और हैरान भी. परेशान व हैरानी के उसी आलम में वे मुझसे पूछ ही बैठे...यह कहां लेकर आ गए हो भाई. मेरा यहां क्या काम...यहां तो बड़े-बड़े लोग आते हैं...देख नहीं रहे हो कैसी गाड़ियां लगी हैं और अंदर का नज़ारा भी ऐसा है जहां मैं ख़ुद को फ़िट नहीं महसूस कर रहा हूं...लगता है तुम भूल से किसी ग़लत जगह लेकर आ गए हो...

मैंने उन्हें तसल्ली दी. समझाया कि साहित्य अकादमी के पास बहुत पैसा है, इसलिए उसने भव्य आयोजन किया है आपके नाम पर. इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आपके नाम पर समारोह हो रहा है. यह पैसा सरकार का है और सरकार चाहती है कि साहित्य के नाम पर इस तरह का तमाशा हो और साहित्य आम लोगों तक पहुंचे. आप आम लोगों के लेखक हैं, इसलिए साहित्य अकादमी ने आपके नाम पर इतना तामझाम किया है ताकि लोगों में संदेश जाए कि साहित्य अकादमी साहित्य के प्रचार-

प्रसार के लिए ढेरों काम कर रही है. प्रेमचंद बिन पलक झपकाए मुझे सुनते रहे. उन्हें यक़ीन नहीं आ रहा था कि उनके नाम पर साहित्य अकादमी नाम की किसी संस्था ने इतना बड़ा आयोजन किया है. बेयक़ीनी भरे लहजे में उन्होंने कहा, लेकिन भाई इस तरह की जगहों पर तो मैं कभी गया ही नहीं. मैं तो छोटे शहर का सीधा-साधा आदमी हूं, अपने जैसे ही लोगों के साथ अब तक रहता आया हूं. ऐसी जगहों पर मुझे लाकर यह साहित्य अकादमी भला मेरा क्या भला करेगी...मुझे सचमुच अंदर जाते हुए डर लग रहा है. फिर देख लो कि हम ठीक जगह पहुंचे हैं या नहीं!

प्रेमचंद अब भी संशय में थे. इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के बाहर लगे बोर्ड पर कार्यक्रम की तफ़सील दर्ज थी. बोर्ड पर उनकी तस्वीर भी थी. मैं उन्हें बोर्ड दिखाता हूं. बोर्ड पर अपनी तस्वीर देख कर उनकी परेशानी और बढ़ती है, लेकिन अंदर जाने से फिर भी वे घबरा रहे थे. लेकिन मेरे समझाने पर वे अंदर जाने के लिए राज़ी होते हैं.

समारोह शुरू होने को था. वहां कई जाने-अनजाने चेहरे नज़र आते हैं. सभी पंथ के लेखक समारोह में मौज़ूद थे. वामपंथी, दक्षिणपंथी और बीच वाले भी. महाश्वेता देवी, कमलेश्वर, केदारनाथ सिंह, राजेंद्र यादव, रामवचन राय, अरुण कमल, चंद्रभान ख़याल, कुंवरपालसिंह, नमितासिंह, नुसरत ज़हीर, गिरिराज किशोर, नंदकिशोर आचार्य और ढेरों अनजाने चेहरे. सामने ही महाश्वेता देवी मिल गईं. उनका अभिवादन किया. पूछा आप कैसी हैं? मैंने मुस्कराहट के साथ ही कहा...अभी दिल्ली को समझ रहा हूं...पूरी तरह समझ जाऊंगा तो बताऊंगा. वे हंस पड़ती हैं. मैं अपना सवाल फिर दोहराता हूं, और आप कैसी हैं...महाश्वेता देवी हंसती हैं और पूछती हैं, क्यों कैसी लग रही हूं! फिर खनकदार आवाज़ में कहती हैं, मैं ख़राब रह ही नहीं सकती हूं...अभी बहुत काम करना है...

मैं कहता हूं, आपको ठीक रहना होगा, क्योंकि आप ठीक रहेंगी तो हम भी ठीक रहेंगे. आप लोगों को देखकर ही तो हमें रास्ता दिखाई देता है और कुछ करने का, लड़ने का हौसला भी पैदा होता है. यह सुन कर वह खिलखिला कर हंस पड़ती हैं. वे आगे बढ़ती हैं. उनके साथ चल रहे लोगों का समूह भी चला जाता है. प्रेमचंद कहीं पीछे छूट जाते हैं. उन्हें ढूंढ़ने के लिए नज़र दौड़ाई. देखा वे एक तरफ़ सकुचाए खड़े हैं. उनके पास जाकर उन्हें साथ लेता हूं. वामपंथी लेखकों को इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के इस 'भव्य' समारोह में देख कर हैरत भी हुई. मेरे दिमाग़ में विचार कौंधता है, प्रेमचंद के नाम पर इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में इस तरह के आयोजन का क्या और कितना औचित्य है, यह तो अकादमी के अध्यक्ष गोपीचंद नारंग ज़्यादा बेहतर समझते होंगे, लेकिन वामपंथी लेखकों को जो अकादमी के पिछले चुनाव में गोपीचंद नारंग को पानी पी-पी कर गरिया रहे थे और उन्हें भाजपाई बता कर छाती पीट रहे थे, आज उनके साथ गलबहियां डाले किस तरह समारोह में ऊंचे स्वर में बोल-बतिया रहे हैं.

वामपंथ का यह नया रंग प्रेमचंद के नाम पर आयोजित उस समारोह में देखने को मिला था. तब मुझे लगा कि प्रेमचंद क्यों और किसलिए इंडिया इंटरनेशनल सेंटर परिसर आने से हिचकिचा रहे थे. शायद वे जानते भी नहीं कि कौन लोग पढ़ते हैं प्रेमचंद को?

थोड़ी देर बाद ही समारोह शुरू हुआ. लेकिन उस हॉल में सुनने वालों की तादाद बहुत नहीं थी. ज़्यादातर वे लोग थे जिन्हें इस सम्मेलन में पर्चा पढ़ना था. यानी जो पढ़ने वाले, वही सुनने वाले. बेचारे प्रेमचंद! उनके पाठकों को न्यौतने की फ़ुर्सत साहित्य अकादमी और उसके अध्यक्ष गोपीचंद नारंग को नहीं रही.

गोपीचंद नारंग की ओर इशारा करते हुए प्रेमचंद ने पूछा, यह महाशय कौन है? मुझे हैरत हुई, प्रेमचंद उर्दू के इस 'महान' आलोचक को नहीं पहचानते हैं तो भला कहानी लिखने का मतलब ही क्या रह जाता है? मुझे हैरत से अपनी तरफ़ देखते हुए देखकर वे पूछ बैठे, 'ऐसे क्या देख रहे हो?'

'क्या सचमुच आप इन्हें नहीं जानते हैं?'

'नहीं भई, यह सज्जन कौन हैं, मैं नहीं जानता हूं?'

तो फिर आप फ़िज़ूल ही रहा आपका रचना संसार. आजकल तो लोग इन्हें ख़ुश करने के लिए ही लिख रहे हैं. चाहे वह कहानीकार हों या शाइर. गोपीचंद नारंग के मूड को देख कर ही सारा साहित्य रचा जा रहा है.

प्रेमचंद मुझे हैरत से देखते हैं. उन्हें मेरी बात पर यक़ीन नहीं हुआ. बेयक़ीनी भरे लहजे में पूछा, 'ऐसा कैसे हो सकता है?'

आपको यक़ीन नहीं आ रहा है, लेकिन मुंशीजी आज साहित्य का सच यही है. अदब में एक अलग तरह के माफ़िया की घुसपैठ पिछले दरवाज़े से हुई है और वह साहित्यकारों को डिक्टेक्ट करता है. गोपीचंद नारंग भी अदबी माफ़िया के एक गुट के प्रमुख हैं. आज वे अदब के शिखर पर हैं. यह मत पूछिए कि किस तरह पहुंचे? आज साहित्य में तिकड़मों की पूछ है और जो जितना बड़ा बाज़ीगर, उतना बड़ा साहित्यकार. गोपीचंद नारंग आज साहित्य अकादमी के अध्यक्ष हैं. वे आलोचक हैं. वे पुरस्कार दे सकते हैं, दिला सकते हैं. वे किसी अदना आदमी को अदीब बना सकते हैं और किसी अच्छे साहित्यकार के लेखन को मिनटों में बकवास क़रार देकर साहित्य से ख़ारिज कर सकते हैं. वे साहित्यकारों को पुरस्कारों, फ़ेलोशिप का झुनझुना थमाते हैं. साहित्यकार ख़ुश होता है. उनकी बंदगी बजाता है. देशी ही नहीं, विदेशी पुरस्कार भी गोपीचंद नारंग की जेब में रहते हैं. बस उनके गुट में शामिल होने की देर है, देर-सवेर आपको बड़े लेखक होने का फ़तवा देकर वे आपको पुरस्कार दिलवा सकते हैं...कभी-कभी ख़ुद भी पुरस्कार लेकर पुरस्कारों पर एहसान करते हैं. और गोपीचंद साहित्य में अकेले नहीं है. मुंशीजी ढेरों में ऐसे लोग मिल जाएंगे जो इस तरह का खेल, खेल रहे हैं.

अकादमियों, परिषदों व इसी तरह के दूसरे संस्थानों पर क़ाबिज होने का खेल दिल्ली में ख़ूब-ख़ूब खेला जाता है. दिल्ली में रह कर साहित्य के इस राजनीति या कहें कि साहित्य के माफ़िया गिरोह का खेल काफ़ी क़रीब से देखा है और देख रहा हूं. हर गिरोह दूसरे गिरोह के लिए 'सुपारी' देता है और मज़ेदार बात यह है कि सब कुछ नैतिकता, आदर्श और मूल्यों का ढिंढ़ोरा पीट कर किया जाता है. यानी जितना अनैतिक, मूल्यहीन और आदर्शहीन काम किया जा सकता है, दिल्ली में बैठकर साहित्यकारों का गुट करता है. दूसरी भाषा में इस तरह का खेल चल रहा है या नहीं, कह नहीं सकता, लेकिन हिंदी और उर्दू में यह गिरोहबंदी ज़्यादा है. दिल्ली में बैठे साहित्य का माफ़िया-तंत्र देश के हर हिस्से में फैला है. हर जगह अपने-अपने गुट की क़सीदाख़ानी करते लोग मिल जाएंगे. जो किसी गुट में नहीं होते हैं, वे साहित्य के हाशिए पर नज़र आते हैं. न तो उनकी रचनाओं की कहीं चर्चा होती है और न उन पर कोई कभी कुछ लिखता है. जैसे-तैसे उनकी किताबें प्रकाशित होती भी हैं, तो कोई उन पर बात भी करना नहीं चाहता. नारंग साहब भी इस खेल के माहिर हैं और सच मानिए अदीबों की क़तार उनकी जी हुज़ूरी में लगी रहती है. उन्हें ख़ुदा मानकर उनके दर पर सज्दा करने वाले साहित्यकारों की कोई कमी नहीं है. आप गिनती भूल जाएंगे, लेकिन नारंग साहब की क़सीदाख़ानी करने वालों की तादाद में कमी नहीं आएगी. पुरस्कारों की राजनीति ने अदीबों को मुसाहिब बना डाला है.

लेकिन फ़ज़ल मियां हमारे ज़माने में तो ऐसा कुछ भी नहीं था. न तो पुरस्कार थे और न ही इस तरह का खुला खेल फ़र्रुख़ाबादी. हमारे लिए सामाजिक ज़िम्मेदारी अहम थी. और हमारे ज़माने में आलोचना का स्तर भी आज की तरह नहीं था. हमारे ज़माने में रचना को रचना के भीतर जाकर परखा जाता था. आज की तरह न इतनी गुटबंदियां थीं और न ही साहित्य गिराहों में इस तरह बंटा था कि आदर्श, मूल्य और नैतिकता जैसे शब्द बेमानी हो जाएं. व्यक्तिगत छीछालेदार आज साहित्य बन गया है और अच्छे व बेहतर रचनाकार कहीं कोने में हैं. इससे लोगों का भला ज़रूर हो रहा होगा, पर साहित्य का नहीं ही हो रहा है. अब तुम ही बताओ, मेरे नाम पर इस तरह के भव्य आयोजन पर लाखों रुपए ख़र्च किया गया है. ताउम्र मैंने इतने पैसे नहीं देखे. इतने पैसे में कुछ और सार्थक कम हो सकता था. निरक्षरता कम हो सकती थी छोटी जगहों की. वहां प्रेमचंद के लिखे पर ईमानदार बातचीत हो सकती थी. तब पाठकों की कमी के रोने की बजाय उनसे संवाद बनते और सरोकार भी. प्रेमचंद की आवाज़ में गहरी उदासी थी.

आप ठीक कह रहे हैं, लेकिन आज यह सब कौन सोचता है और किसे इतनी फुर्सत है कि इस पर सोचे, विचारे. बुरा मत मानिएगा, लेकिन सच्चाई है यह कि आपने भले 'गोदान', 'कफ़न', 'सवा सेर गेहूं' सरीखी रचनाएं लिखी हैं. आपकी इन

रचनाओं की महानता पर लंबे-लंबे भाषण जो पेल रहे हैं अगर आपके ज़माने में भी साहित्य जानने का दावा करने वाले होते, तो आपको 'प्रेमचंद' बनने में काफ़ी मशक़्क़त करनी पड़ती. आपकी कृतियाँ महान इसलिए हो पाईं कि उस दौर में आज की तरह राजनीति नहीं थी, वर्ना आज का दौर होता तो आपकी इन महान कृतियों को आज के आलोचक अपनी-अपनी कसौटी पर परखते. आप ठहरे भले आदमी. इनके आगे पीछे घूमते नहीं, इसलिए आपको यही लोग ख़ारिज कर देते. साहित्य अकादमी पुरस्कार देना तो दूर, आपकी बीमारी पर आपसे कहती कि अकादमी के पास पैसा नहीं है. आपको दिये जाने वाले किसी भी पुरस्कार का विरोध करते. अच्छा हुआ आप आज के दौर में नहीं हैं. यक़ीन जानिए हम जैसे लोगों के लिए आज चुनौतियां भी बढ़ी हैं और ख़तरे भी. आपके साथ की यह बातचीत छपने के बाद कितने लोग मेरे पीछे पड़ेंगे, कह नहीं सकता. हमारे ज़माने में जोखिम ज़्यादा है.

इस बीच समारोह शुरू हो चुका था. उद्घाटन की रस्म अदायगी के बाद प्रेमचंद की रचनाओं पर चर्चा होती रही. इस बीच गुमसुम बैठे प्रेमचंद लोगों को सुनते रहे. उनकी आंखों की चमक धुंधली पड़ चुकी थी. साहित्य के नए रंग ने उन्हें आहत किया था. सूनी-सूनी आंखों में एक दर्द चुपचाप उतर आया था. मैंने भी ख़ामोश रहना ही बेहतर समझा.

पहला सत्र समाप्त हुआ. इस बीच भोजन का समय हो गया था. इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में ही भोजन का इंतिज़ाम था. प्रेमचंद की ख़्वाहिश खाने की नहीं थी, लेकिन मुझे लगा कि उन्हें कुछ खिला देना बेहतर होगा. लेकिन खाना खाने में भी ग़ज़ब की अफ़रातफ़री थी (पाठक कृपया इसे मारामारी पढ़ें). साहित्य अकादमी के कर्मचारी दारोग़ा की तरह सिर पर तैनात. हालांकि खाने की क़तार में लगे लोगों में आमंत्रित लेखकों की तादाद ही ज़्यादा थी. पर साहित्य अकादमी के कर्मचारी उन्हें इस तरह घूर रहे थे मानो उनकी जेब से सारा ख़र्च हो रहा है. सम्मेलन में शामिल होने वाले के अलावा कुछ ऐसे भी लोग वहां थे जो सिर्फ़ लोगों को सुनने आए थे. उनके लिए वहां का माहौल अपमानजनक ही ज़्यादा था. इस माहौल में खड़ा रहना मुझे ठीक नहीं लगा. प्रेमचंद के चेहरे पर भी नागावारी का भाव था. मैं उन्हें लेकर बाहर निकल आया.

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर से बाहर निकलते ही प्रेमचंद ने राहत की सांस ली. कहा, वहां तो मेरा दम घुट रहा था फ़ज़ल मियां. ऐसा करो घर चलो. अब यह तमाशा देखा नहीं जाता.

'लेकिन सम्मेलन तो शाम तक चलेगा..' मैंने कहा.

'चलने दो...मुझे कुछ ठीक नहीं लग रहा है. चलो घर चलें.' उन्होंने फिर कहा. ज़ोर देने पर उन्हें लेकर मैं कमरे पर लौट आया.

थोड़ी देर आराम करने के बाद उन्होंने कहा, शाम को मुझे ट्रेन चढ़ा देना...

लेकिन क्यों, अभी तो समारोह चार दिन चलना है?

ठीक कहा तुमने कि समारोह चार दिनों तक चलेगा, लेकिन तुम ही बताओ उस समारोह में न तो मेरे पाठक हैं और न ही पात्र. होरी, धनिया, अलगू चौधरी, जुम्मन शेख़, घीसू, माधव और इन जैसे अपने दूसरे चरित्रों को मैं वहां तलाश करता रहा, लेकिन वे मुझे कहीं दिखाई नहीं दिए. हो सकता है, वे दिल्ली भी न पहुंच पाए हों या फिर उस इमारत के बाहर फ़ुटपाथ पर बैठे रह गए हों, क्योंकि दरबान ने तो उन्हें अंदर आने नहीं दिया होगा. जहां न मेरे पात्र हैं और न ही पाठक, वहां मेरे रहने का क्या फ़ायदा! इसलिए मुझे आज शाम की ट्रेन पर चढ़ा दो. वहां मेरे पात्र भी हैं और मेरे पाठक भी. इतना कहते-कहते वे सुबक उठे. मैंने उनका कंधा थपथपाया. वे ज़ार-ज़ार रोने लगे थे. इसके बाद न वे बोले और न मैं कुछ कहने की हिम्मत कर सका.

शाम मैंने बनारस जाने वाली ट्रेन पर उन्हें बिठा आया. रिजर्वेशन के लिए वे राज़ी नहीं हुए. जनरल डिब्बे में ही उन्हें बिठाया. ट्रेन छूटी तो उनकी आंखें फिर बरस पड़ीं. मेरे अंदर भी कुछ होने लगा था लेकिन मैंने अपने आप को रोका...उनके आंसू पोंछे और कहा, फिर आइएगा...अभी सब कुछ ख़त्म नहीं हुआ है...

ज़रूर आऊंगा...ठीक कहा तुमने कि अभी बहुत कुछ बाक़ी है. तुम जैसे लोगों को देख कर लगता है कि सचमुच अभी बहुत कुछ बाक़ी है. अपने भीतर की आग को ठंडी होने मत देना...उनकी आंखों में एक चमक उभरी...उम्मीद और यक़ीन की.

गाड़ी रफ़्तार पकड़ रही थी. उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में दबा रखा था. गाड़ी की गति तेज़ हुई तो उन्होंने हाथ छोड़ दिया...अपनी बात वे फिर दोहराते हैं...अपने भीतर की आग बुझने नहीं देना...तुम्हें भीड़ में अलग राह बनानी है ताकि देश और समाज का चेहरा बदल सके...काम मुश्किल ज़रूर है लेकिन नामुमकिन नहीं...

गाड़ी प्लेटफ़ार्म से दूर होती जा रही थी...अब सिर्फ़ उसके पिछले डिब्बे की जलती-बुझती लाल बत्ती दिखाई दे रही थी...थोड़ी देर बाद सिर्फ़ ख़ाली पटरियां रह गईं. ट्रेन ओझल हो चुकी थी. प्लेटफ़ार्म पर किसी और ट्रेन के इंतिज़ार में खड़े यात्रियों में मेरी आंखें तलाशती हैं होरी, धनिया, घीसू को, मगर वे नहीं मिलते. दिल्ली उनके लिए अभी भी दूर है शायद. मैं लौट आता हूं अपने ठीहे, जहां आए थे प्रेमचंद कभी. ❑

4 बी, फ्रेण्ड्स अपार्टमेंट्स, मधुविहार गुरुद्वारा के पास, पटपड़गंज, दिल्ली

कलामे-इब्ने इंशा

(10 जून 1926 – 11 जनवरी 1978)

इब्ने इंशा की आख़िरी नज़्म शेष-39 में पेश की गयी थी. श्री हरदर्शन सहगल की फ़रमाईश पर उनकी कुछ और नज़्में यहां दी जा रही हैं, जो उनके मज्मूआ 'चांद नगर' से ली गयी हैं. 'चांदनगर' वाणी प्रकाशन वाले छापना चाहते थे. मैंने मेहनताने के बारे में दरयाफ़्त किया, तो वाणी की वाणी ही ख़ामोश हो गयी. उन्हें मुफ़्त का माल चाहिये, पर इब्ने इंशा इतने सस्ते न थे कि जमाल के हाथों लुट जाएं. 'चांदनगर' के एक दर्जन एडिशन शाए' हो चुके हैं. इब्ने इंशा के सफ़रनामे भी बड़े मशहूर हुए. 'उर्दू की आख़िरी किताब' इंशा के तंज़ो-मिजाह की आ'ला शाहकार थी जो हिंदी में शाए' हो चुकी है. ये नज़्में लाहौर एकेडमी, 205 सर्कुलर रोड, लाहौर के शुक्रिया के साथ...



साये से

क्यों मिरे साथ साथ आता है?
मेरी मंज़िल है बेनिशां नादां?
साथ मेरा तिरा कहां नादां?
थक गये पांव, पड़ गये छाले
मंज़िलें टिमटिमा रही हैं दूर!
बस्तियां और जा रही हैं दूर!
मैं अकेला चलूंगा ए साये!
कौन अहदे-वफ़ा निभाता है?
कौन मिरे साथ साथ आता है?
तू भी जा मिलेगा सायों में
मैं कहां जाऊं, मैं कहां जाऊं?
किस की आग़ोश में अमां पाऊं?

(1944)

वो दरीचे

कब से इस चौक में खड़ा हूं मैं
उन दरीचों को तक रहा हूं मैं (खिड़कियों)
हाय क्या याद आ गया ए दोस्त!
बारहा सैर के लिये जाते
मैंने इस राह से गुज़रते हुए
एक मदक़ूक़-सा हंसी चेहरा (तपेदिक़ का मरीज़)
इन दरीचों से झांकते देखा
कितने मौहूम वल्वले जाने (भ्रमात्मक) (उमंग)
हर नज़र में तड़प रहे होते
जैसे कोई ख़ज़ांज़दा पौदा
हो यही सोच सोच कर जीता
है कोई दिन– ये इंतिज़ार के दिन
फिर पलट आएंगे बहार के दिन
जाके परदेस लौट आया हूं
और इसी राह से गुज़रता हूं
लेकिन ए दोस्त, अब कभी मैंने
ये दरीचे खुले नहीं देखे
हुस्ने-बीमार मर गया शायद
सोचता हूं ख़ज़ांज़दा पौदा
इंतिज़ारे-बहार कर न सका
था बहारों से आशना शायद

(1944)

इंतिज़ार की रात

उमड़ आते हैं शाम के साये
दम-ब-दम बढ़ रही है तारीकी (अंधकार)
एक दुन्या उदास है लेकिन
कुछ से कुछ सोच कर दिले-वहशी
मुस्कराने लगा है जाने क्यों?
वो चला कारवां सितारों का
झूमता नाचता सू-ए-मंज़िल
वो उफ़क़ की जबीं दमक उठी (क्षितिज)

वो फ़ज़ा मुस्करायी – लेकिन दिल
डूबता जा रहा है – जाने क्यों?

(1945)

लोग पूछेंगे

लोग पूछेंगे क्यों उदास हो तुम?
और जो दिल में आये सो कहियो!
यूं ही माहौल की गिरानी है (भारीपन)
दिन ख़ंज़ा के ज़रा उदास से हैं
कितने बोझल हैं शाम के साये
उनकी बाबत ख़मोश ही रहियो
नाम उनका न दरमियां आये
उनकी बाबत ख़मोश ही रहियो
कितने बोझल हैं शाम के साये
दिन ख़ंज़ा के ज़रा उदास से हैं
यूं ही माहौल की गिरानी है
और जो दिल में आये सो कहियो!
लोग पूछेंगे क्यों उदास हो तुम?

(1948)

ए मिरे सोचनगर की रानी

तुझ से जो मैंने प्यार किया है, तेरे लिये? नहीं अपने लिये
वक़्त की बेउन्वान कहानी, कब तक बेउन्वान रहे
ए मिरे सोचनगर की रानी, ए मिरे ख़ुल्दे-ख़याल की हूर (स्वर्ग)
इतने दिनों जो मैं घुलता रहा हूं तेरे बिना यूं ही दूर ही दूर
सोच तू, क्या फल मुझ को मिला, मैं मन से गया, फिर तन से गया
शह्रे-वतन में अजनबी ठहरा...आख़िर शह्रे-वतन से गया
रूह की प्यास बुझानी थी, पर यहां होंटों की प्यास भी बुझ न सकी
बचते संभलते भी एक सुलगता रोग बनी मिरे जी की लगी
दूर की बात न सोच अभी मिरे हाथ में तू ज़रा हाथ तो दे
तुझ से जो मैंने प्यार किया है, तेरे लिये? नहीं अपने लिये
बाग़ में है इक बेले का तख़्ता भीनी है उस बेले की सुगंध
ए कलियो! क्यों इतने दिनों तुम रखे रहीं उसे गोद में बंद

कितने ही हम-से रूप के रसिया आये यहां और चल भी दिये
तुम हो कि इतने हुस्न के होते एक न दामन थाम सके
सहने-चमन पर भंवरों के बादल एक ही पल को छाएंगे
फिर न वो जाकर लौट सकेंगे फिर न वो जाकर आएंगे
ए मिरे सोचनगर की रानी, वक़्त की बातें रंग और बू
हर कोई साथ किसी का ढूंढ़े गुल हों कि बेले में हो कि तू
जो कुछ कहना है अभी कह ले जो कुछ सुनना है सुन ले
तुझ से जो मैंने प्यार किया है, तेरे लिये? नहीं अपने लिये

ढलती रात

ढलती हुई रात की ख़मोशी बस्ती की फ़ज़ा-प छा गयी है
ड्यूटी है तवील संतरी की कुत्तों को भी नींद आ गयी है

गिरजा की घड़ी ने झनझनाकर चुपके से दो बजा दिये हैं
लोगों ने गिरा लिये हैं पर्दे लोगों ने दिये बुझा दिये हैं

हारा हुआ मार्केट का मज़्दूर ठेले प दराज़ हो गया है
नाले ही प ऊंघता है बैठा पटरी ही प पड़ के सो गया है

सिगरेट तक की बंद हैं दुकानें सिनेमा भी उजड़ चुके हैं सारे
इक्का है न बस न घोड़ागाड़ी बोझल हैं क़दम थकन के मारे

कोनों में दुबक गयी हैं आख़िर पर्दों से वो झांकती निगाहें
रोज़न हैं तमाम ख़ाली ख़ाली जल्वे न लगावटें न आहें (सूराख़)

तारों की उदास उदास पलकें कहती हैं इन्हें भी कुछ हुआ है
कैसे भला सोएं आंख झपकें अब चांद जो सर प आ गया है

हम से तो इसे ग़रज़ न होगी जाने ये किसे बुला रही है
गूंजी है कहीं प कोई सीटी किस शह्र की रेल जा रही है

सिग्नल के दिये की एक चश्मक कहती है हज़ारहां कथाएं (आंख का इशारा)
हमको भी क़रार की तलब है किस दर प चलें, किसे जगाएं

(1951)

सराय

नगर पराया, चेत महीना, सूनी रात, सराय
दीवारों पर मैले मैले फैले फैले साये
आने वाले कल का छलावा लपक झपक दिखलाए
क्या क्या स्वांग रचाए
घड़ी की सुई सदियां बीत चुकें तो एक बजाए
आस की बेल निहायत निर्बल छाया से शरमाए
अंधा दीपक मतवाली पुरवा के थपेड़े खाए
कांप-कांप रह जाए
नीलम नील आकाश पे अपना पीला जाल बिछाए
मुग्धम मुग्धम संदेशों से अपने पास बुलाए
चंचल चंदा दूर दूर से देखे और मुस्कराए
लेकिन हाथ न आए
दिल पर सोच, पुरानी बेरन रह रह चोट लगाए
नाहक़ तुमने मंज़िल मंज़िल पथ पथ दीप जलाए
चार कूट वही घोर अंधियारा, चार कूट अन्याय
दिन दिन बढ़ता जाय
घूं घूं घूं घूं चर्ख़ी घूमे पहिया शोर मचाए
शप शप शप शप पट्टों में लिपटी क़िस्मत चक्कर खाए
कहीं तो चक्की मोटा पीसे, मैदा कहीं बनाए
और कहीं थम जाए
टिट टुट टिट टुट बैल की जोड़ी घूमे शीश झुकाए
हल की नोक लकीरें खींचे, लेख के भेद बताए
हलवाहा जहां सुब्ह समे था शाम को जब सुस्ताए
वहीं सितारे पाये
फिर ज़ुहरी बम्बार फ़ज़ा पर झपटे और गुर्राए (एटमी)
पूरब देस धुएं का बादल आग पड़ा बरसाए
पश्चिम के गिद्धों के लश्कर आए पर्रे जमाए
लाशों पर मंडलाए
कभी उक़ाब, कभी स्वास्तिक इक आए इक जाए (गरुड़)
जंग का, लू का घर-खेती खलियान पड़ा झुलसाए
कहीं तो बेरुत होली खेले, कहीं बसंत मनाए

शेष

रूप अनूप दिखाए
काल के काले काले राक्षस चार कूट में छाए
अंतड़ियों में भूक की किरचें जहां तहां हर जाए
गोदामों पर ख़ूनी पहरे खवे से खवा मिलाए (कंधा)
संगीनें चमकाए
शह्र का क़ाज़ी फ़तवे छापे, गली गली फैलाए
मोड़ मोड़ पर दुखिया गोरी याद के दीप जलाए
सोच रही है इतने दिन में कितने पाप कमाए
किस को गिनती आए
हम जागीर क़लम की लेकर क्या खोए क्या पाए
शब्द मनोहर, बोल कटीले, रम्ज़ें और किनाए (इशारे)
सब ग़ज़लों के कहने वाले कवियों ने अपनाए
अपने हाथ न आए
पीत की मीठी बातें छोड़ी, छोड़ीं और पछताए
धरती के बेटों की विपदाओं के आल्हे गाए
चोरों की मानिन्द बंधी मुश्कों में पकड़े आए
दीवाने कहलाए
यारों का इक ग़ौल छनाछन जेबों को छनकाए
इन लोगों ने चाकरियों में सस्ते टके कमाए
'इंशा' जैसे एक बार भटके तो हुए पराए
कोई न धोका खाए
नगर पराया, चेत महीना, सूनी रात, सराय
दीवारों पर मैले मैले फैले फैले साये
आने वाली का भरोसा दिन दिन उठता जाए
यारो कोई उपाय!
यारो कोई उपाय!!

(1952)



नासिर काज़मी
(1925 – 1972)

किसी कली ने भी न देखा आंख भर के मुझे
गुज़र गई जरसे-गुल उदास करके मुझे (फूल खिलने की आवाज़)
मैं सो रहा था किसी याद के शबिस्तां में (शयनकक्ष)
जगा के छोड़ गए क़ाफ़िले सहर के मुझे
मैं तेरे दर्द की तुग़्यानियों में डूब गया (सैलाब)
पुकारते रहे तारे उभर-उभर कर मुझे
तेरे फ़िराक़ की रातें कभी न भूलेंगी (वियोग)
मज़े मिले उन्हीं रातों में उम्र भर के मुझे
ज़रा-सी देर ठहरने दे ए ग़मे-दुन्या
बुला रहा है कोई बाम से उतर के मुझे (छत)
फिर आज आई थी इक मौजः-ए-हवा-ए-तरब (ख़ुशी)
सुना गई है फ़साने इधर-उधर के मुझे

चेहरा अफ़रोज़ हुई पहली घड़ी, हमनफ़सो शुक्र करो (प्रकाशमान) (मित्र)
दिल की अफ़सुर्दगी कुछ कम तो हुई, हमनफ़सो शुक्र करो (अवसाद)
आओ फिर यादे - अज़ीज़ां ही से मैख़ाना ए जां गर्म करें
देर के बा'द ये महफ़िल तो जमी, हमनफ़सो शुक्र करो
आज फिर देर की बिखरी हुई यादों ने पुकारा दिल को
देर के बा'द कोई बात चली, हमनफ़सो शुक्र करो
रात भर शह्र में बिजली-सी चमकती रही हम सोये रहे
वो तो कहिये कि बला सर से टली, हमनफ़सो शुक्र करो

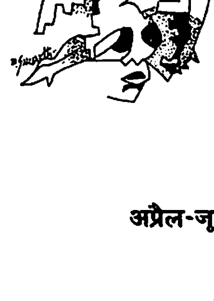
मुश्फ़िक़ ख़्वाजा

(19 दिसम्बर 1935 ई. लाहौर–21 फरवरी 2005 ई. कराची)

क़दम उठे तो अजब दिलगुदाज़ मन्ज़र था (दिल को पिघलाने वाला)
मैं आप अपने लिये रास्ते का पत्थर था
हर आईना मेरी आँखों से पूछता ये है
वोह अक्स क्या हुए, आबाद जिनसे यह घर था (प्रतिबिंब)
हर इक अज़ाब को मैं सह गया मगर न मिला
वह एक ग़म जो मेरे हौसले से बढ़कर था
हज़ार बार ख़ुद अपने मकाँ पे दस्तक दी
इस एहतिमाल में जैसे कि मैं ही बंदर था (शंका)
उदास रातों में पैहम सुलगती सुब्हों में (निरन्तर)
जो ग़म गुसार था कोई तो दीदा ए-तर था (भीगी हुई आँख)

यही नहीं कि वह बेताबो-बेक़रार गया
मेरी रगों में भी इक ज़हर-सा उतार गया
बुझे हुए दरो-दीवार देखने वालो
उसे भी देखो जो इक उम्र यों गुज़ार गया
वफ़ा के बाब में उस से तो कुछ कमी न हुई (अध्याय)
मैं आप अपनी ख़ुशी से यह बाज़ी हार गया
हवाए-सर्द का झोंका भी कितना ज़ालिम था
ख़यालो-ख़्वाब के सब पैरहन उतार गया (वस्त्र) ❑

(बशुक्रिया: ख़लील तनवीर)



ग़ुस्ल

हसन आबिदी

मुझे बर्फ़ की सिल पे डाला गया
पारा-पारा बदन को बटोरा गया
फिर संभाला गया
मगर मैं—अगर मैं वही हूं जो पहले भी था
तो अब भी मुकम्मल नहीं हूं
ये बाज़ू किसी और का है
जिसे मेरे शाने से जोड़ा गया है (कंधा)
टांग मेरी है, लेकिन अधूरी है
मैं इसे अपने पांव के जूते से पहचानता हूं
कितने हिस्सों में तक़्सीम होता हुआ
मैं यहां आ गया हूं
वो जो बाहर खड़े, मिरी लाश की वापसी के लिये
मुर्दाख़ाने के एक-एक फ़र्द से इल्तिजा कर रहे हैं
उठाएंगे कैसे मुझे!
कि मैं कहीं कुछ जियादः हूं और कहीं मुख़्तसर रह गया हूं
हां नवासी मेरी, मुझ को मेरे पसीने की ख़ुशबू से पहचान लेगी
कि वो मेरे सीने पे सोने की आदी है
लेकिन ये सीना तो छलनी हुआ है
दिल तो मेरा है, लेकिन बदन में बहुत कुछ किसी और का है
वो मुझे ग़ुस्ल देने की हस्रत में
आंसू बहाते हुए हर तरफ़ फिर रहे हैं
मगर देखते क्यों नहीं
वो जो ग़ुस्साल मस्जिद की दीवार से (ग़ुस्ल देने वाला)
सहन व मेहराब से
हमारे बदन का लहू धो रहे हैं
वही तो हमें धो रहे हैं

नीहाबंद यादें

किश्वर नाहीद

मैं यादें दफ़्न करते हुए सोचती हूं
पहले किसे दफ़्न करूं
वो लम्स जो अंधेरे में (स्पर्श)
कच्चे दूध की मलाई की तरह
मेरे नन्हे-से बदन में
बहुत दिन तक हुमकता रहा था,
कि उस वस्ल को
जिसने मेरे जागते रहने
और जागते में ख़्वाबों की
मेरी ज़रूरत समझ कर
मेरे सूखे प्याले में
अपना ज़रा-सा अरक़ टपका दिया था,
मगर मैं यादों को तक़्सीम क्यों कर रही हूं
कि हर गुज़िश्ता दिन एक याद होता है (पिछला)
मगर हर याद, ता'ल्लुक़ की गिरह में बंधी नहीं होती है
फिर भी कोई याद, मेरी पसलियां दबाती है
बहुत-सी यादें पूछती हैं
हिसाब उन आंसुओं का
जो ज़बरदस्ती के मौसम में
पतझड़ की तरह
नील बने दाग़ों को मैं गिन नहीं सकती थी
मेरी बहुत-सी यादों के शजर (पेड़)
बेमौसम फल देने लगते हैं
उनके रंग बहुत ख़ूबसूरत
मगर ज़ाइक़ा कसैला-कसैला होता है
तुम कहोगे यादों की रसभरियां
जो आंखों में ठहर गयी हैं
उनको ख़ुद से अलग करके कैसे देखती हूं?
मैं उन्हें अपनी रॉकिंग चेयर पे रख कर
उस वक़्त तक देखती रहती हूं

शेष

जब तक वो धुंधले मंज़रों में तहलील होकर
मेरे होंटों पर पपड़ियां बन जाते हैं
उस वक़्त मेरे दिल में सहरा की हवाएं गूंजती हैं
मेरी आंखों में रेत भर जाती है
मेरी अलबम में यादों की सूरत में
जितनी भी शक्लें हैं
उनको डस्टबिन में डाल देती हूं
वो फिर नन्ही चिड़ियों की तरह फ़ुदक कर बाहर आ जाती हैं
इसीलिये तो सोचा है
कि अब इन बेमौसम यादों का क्या करना है?
चलो, इन्हें दफ़्न कर दें

(धूमिल)

फ़लूज़ा के दरवाज़े पर खड़ी नज़्म

मैं इन नज़्मों का क्या करूं?
जो मैंने बहते हुए ख़ून और ज़ुल्म
के ख़िलाफ़ लिखी थी
कि ख़ून तो मुसल्सल बहे जा रहा है
और ज़ुल्म बढ़ता ही चला जा रहा है

(निरंतर)

मैं इन नज़्मों का क्या करूं?
जिनमें सहमे हुए ज़ख़्मी बच्चों के
रोने की आवाज़ें गूंजती थीं
कि अब हर तरफ़ कराहें और आहें
मेरे कानों को छेद रही हैं

मैं इन नज़्मों का क्या करूं?
जो मैंने उड़ती चिड़ियों और खिलखिलाती
लड़कियों पे लिखी थीं
कि अब तो लड़कियां माले-ग़नीमत से भी
अर्ज़ां ख़रीदी और बेची जाती हैं

(सस्ती)

मैं इन नज़्मों का क्या करूं
जो मेरे पुरखों ने लिखीं

शेष

ख़ुदाई को चैलेंज किया और यगाना कहलाए (एकमात्र)
कि अब ज़िंदा होते तो शातिमे-रसूल कहलाते
मुझे बताओ, मैं इस सच का क्या करूं?
जो ज़मीन पे बोला नहीं जा सकता
आस्मान पे पढ़ा नहीं जा सकता
अख़बार में छप नहीं सकता
और लोगों के सामने बोलो
तो वो आपको वहशी और नाआक़िबत अंदेश (अदूरदर्शी)
कहते हैं
मुझे बताओ
मैं अपने दुपट्टे के पल्लू में बंधी
इस मीरास का क्या करूं? (धरोहर)
जो मेरे हाथ में रखे ख़ाली दिये की तरह है
कि इसमें भड़कती हुई लौ
उन लोगों के साथ चली गयी
जो तेज़क़दम और ज़मानासाज़ थे
मुझे तो ख़्वाब में भी कटे हुए सर नज़र आते हैं
शायद ये मेरी नज़्मों के कूच का वक़्त है

(दुन्याज़ाद-15, कराची)

घटते बढ़ते साये

मुझे एक दफ़ा फिर मुसलमान बना दिया गया है
मैंने ज़िंदगी के सारे रंग
सारी सुब्हें, सारी शामें
अज़ान सुन कर इसी तरह वक़्त का अंदाज़ा
लगाया था, जैसे पिछले ज़माने के लोग
बढ़ते और घटते सायों को देख कर
वक़्त का अंदाज़ा लगाते थे
मुझे तीस बरस हुए
एक दफ़ा पहले भी मुसलमान बना दिया गया था

उस वक़्त टेलीविज़न पे वुज़ू करना सिखाया जाता था
नमाज़ पढ़ने का तरीक़ा दिखाया जाता था
मेरे बच्चे हैरान होकर पूछते थे
अम्मां! ये किस को मुसलमान बना रहे हैं?
उन हाजियों को जो व्योपार करते हैं
मिलावट का
और हर साल उमरा करते हैं
कि उन स्मगलरों को
जो दाता साहब पे हज़ारों का चेक
संदूक़ची में डाल जाते हैं
मेरी पोती खाना खाने से पहले
अंग्रेज़ी में बिस्मिल्लाह पढ़ती है
मगर वो मुसलमान नहीं है
मेरा जापानी दोस्त
हर साल ग़रीब लड़कियों की तर्बीयत के लिये
पैसे भेजता है
मगर वो मुसलमान नहीं है
तो फिर वो काफ़िर हुए
काफ़िर किसे कहते हैं?
हम हज़्रत ईसा को अपना पैग़ंबर मानते हैं
और हज़्रत इब्राहीम के बनाये हुए घर की जानिब
मुंह करके नमाज़ पढ़ते हैं
और हम इन पैग़ंबरों को मानने वालों को
काफ़िर कहते हैं!

मुझे याद है मुझे दस साल हुए
मुसलमान बना दिया गया था
जब सारी औरतों को टेलीविज़न पे
दुपट्टे ओढ़ा दिये गये थे
ख़्वाब देखती हुई औरत हो कि तालाब में
डूबी हुई औरत
हरेक के सर पे दुपट्टा था
बरसों गुज़रे मेरी मां

और आज के गांव की मां और बेटी के
सर पे दुपट्टा है
मगर वो ढोलक पे गीत गाती हैं
और घरों के सहन में हुक़्क़ा पीती हैं
मुझे एक दफ़ा फिर मुसलमान बनाने वाले
उनके ढके हुए सरों को नंगा करने
इसलिये पहुंच जाएंगे
कि वो ढोलक बजा रही हैं

मुझे एक दफ़ा फिर मुसलमान बनाने वालों को
ख़बर भी नहीं कि मेरे अंदर के इंसान को
मेरे बच्चों के अंदर के इंसान को
वो इस तरह वहशी बना रहे हैं
कि मेरे अंदर के इंसान को
किसी मंदिर या मस्जिद ने तर्बीयत नहीं दी
ये तो मेरे घर की तर्बीयत और मेरी तहज़ीब है
जो मुझे बुज़ुर्गों का अदब और ख़ुदा का हुक्म मानने पे
बिला किसी तर्ग़ीब आमादा किये हुए है! (प्रेरणा)
मेरी पोती भी बिल्कुल ऐसी ही है
मैं उसे इंसान ही बने रहने दूंगी
उसे हिबः के तहत मुसलमान नहीं बनाऊंगी! (अनुदान)

ख़ुदकुश हमला करने वाले बच्चे!

जब तुम घर से निकले थे
मुझे याद नहीं तुमने पराठा खाया था कि आमलेट
कि कुछ भी नहीं खाया था
याद नहीं कि तुमने सब्ज़ रंग की क़मीज़ पहनी थी
कि ग्रे रंग की शलवार
ये भी याद नहीं कि जब तुम घर से निकले थे
तो सारे घर वालों को ख़ुदा हाफ़िज़ कहा था
कि ख़ामोशी से निकल खड़े हुए थे

कि मुस्कराते, खिलखिलाते, उछलते, कूदते निकले थे
मुझे ये भी याद नहीं कि जब तुम घर से निकले थे
तो तुम्हारे हाथ में रूमाल था
अनजाने और बेसाख़्ता आंसुओं को पोंछने के लिये
कि थैला था जिसमें बारूद भरा हुआ था
या फिर तुम्हारे सीने पे मौत ने
नग़मों की सूरत में
हैंडग्रेंड बांधे हुए थे

जब तुम घर से निकले थे तो कोई पैराहन बदल के (लिबास)
मौत ने तुम्हें आगे जाने से नहीं रोका था
ज़िंदगी तुम्हारी सांस बन कर
तुम से बातें करने ठहर नहीं गयी थी
जब तुम घर से निकले थे
उस वक़्त दुआ देने वाले
मां के हाथ कहां गुम हो गए थे
सलामती के कटोरे में पानी लिये
तुम्हारी बीवी या बहन ने दो घूंट पीने को नहीं कहा था
बोलो और बताओ तो सही
तुमने अलविदाई लम्हा कैसे गुज़ारा
कि मेरे सामने कोई निशानी नहीं
ये बावर करने को (विश्वास)
कि तुम कैसे थे!

□

(ज़ेहने-जदीद– 42, सितंबर 05 से फ़रवरी 06, नई दिल्ली-25)

जो आईने के उस तरफ़ गयीं

मुहम्मद अनवर ख़ालिद

अजल दरीदः व सहरज़दा सितम-नसीब (मौत-मारी) (मंत्र-मुग्ध)
आईने के आसपास लड़कियां
उदास लड़कियां
तमाम रात आफ़ताब उनके इंतिज़ार में रुका रहा

कि सो सकें
तमाम दिन ख़ंज़ा की धूप उनके घर से दूर
ख़ेमाज़न रही (पड़ाव डाले)
कि तेज़ रौशनी से मुज़्तरिब न हों (बेचैन)
नहीं गिरी किसी शजर से शाख़ कोई टूट कर
उदास लड़कियों के सहन में नहीं गिरी
कहीं से एक ईंट भी नहीं हिली
सियाह व सुर्ख़ बामो-दर (कोठा-द्वार)
सफ़ेद पत्थरों पे ज़र्द पानियों का अक्स (प्रतिबिंब)
और आईने के आसपास लड़कियां
उदास लड़कियां
अब इनको इनके घर रवाना कीजिये
निशाने-राह ख़ुद ही चल पड़े तो फिर निशाने-राह किस तरह बने
ये ख़ानाज़ाद औरतें (मालिक के घर पैदा होने वाली)
अब इनको इनके घर तुरंत भेजिये
ये ज़िंदगी की सिल पर पिस चुकीं तो रंग आयेगा
अदम-नसीब औरतें अदम का रास्ता बताएंगी (बदनसीब) (परलोक)
आईने के उस तरफ़ गयीं तो आईने का माजरा सुनाएंगी
उदास औरतें सफ़र के राज़ ले के आएंगी
सफ़र-नसीब औरतें, अजल निशान, औरतें, अदमनज़ाद औरतें
सो ऐसा क्या ज़रूर है कि इनके क़त्ल की सज़ा भी
क़त्ले-अम्द हो? (इरादा) ❑

दूर कहीं

रज़ा मुज्तबा

दूर कहीं नज़रों से ओझल एक उफ़क़
जिसमें मुद्ग़म होती हैं लम्हा-लम्हा (मिली)
काहकशां में काहकशां (आकाशगंगा)
ऐसे ही मेरे अंदर
डूब रहा है कोई जहां
कोई जहां उम्मीदों का अरमानों का

जिस पर अब तक अम्बर-अम्बर नीला-नीला है
और जहां पर पुरवाई के झोंके हैं
अब्रे-रवां के ऊदे नीले गाले हैं (उड़ते बादल)
लेकिन जिसमें कोई रेगिस्तान नहीं
जिसको ख़ुद इंसानों ने फैलाया हो
बाग़ों को वीरां करके
जिसमें कोई तनहाई से तंग आकर
कहता है क्या कोई नहीं
कोई तो हो जो कुछ तो ले
कोई जो कुछ तो करे
दोज़ख़ ही ता'मीर करे
जिसके लाखों मेरे अंदर हैं नक़्शे
तनहाई और बेज़ारी से बर्बरीयत ही अच्छी है (पशुता)
कुश्तो-ख़ूं की रुत ही सही (मारकाट)
पूजें कोई बुत ही सही
जिसको टुकड़े, टुकड़े करके गुस्से में
कूड़े में फेंक तो सकते हैं
पूजें कोई बुत ही सही! ❑

मुसल्सल-मुसल्सल

सर्वत ज़ुहरा

ये झाड़न की झड़-झड़ में
मैं झड़ रही हूं
ये पंखे की घूं-घूं में
मैं घूमती हूं
ये बेलन से चकले पे
मैं बल रही हूं
तवे पर पड़ी हूं
अभी जल रही हूं
ये कूकर की सीटी में
मैं चीख़ती हूं

पड़ी देगची में
कहीं गल रही हूं
मगर जी रही हूं
मुसल्सल-मुसल्सल... ❑

ज़ीशान साहिल

(1)

भीगी हुई एक साइकिल
रखी रही दालान में
गाती रहीं कुछ लड़कियां
ख़्वाबों भरे मैदान में
मैदान के चारों तरफ़
दीवार पर फैली हुई
फूलों भरी एक बेल थी
उस बेल की हद से परे
बारिश से बोझल याद थी
या इक नई ई-मेल थी!

(2)

यही आर्ज़ू थी यही थी तमन्ना
किसी रोज़ मैं भी सितारा बनूंगा
दिलो-जां को मशाल बनाने की ख़ातिर
सुलगते-सुलगते शरारा बनूंगा (चिंगारी)
मैं दर्या तो शायद कभी बन न पाऊं
अगर हो सका तो कनारा बनूंगा
मुहब्बत में शायद फ़ना होते-होते
मैं मिट जाऊंगा और दोबारा बनूंगा

(3)

बारिश में एक चिड़िया
मेरे दिल के पास आयी
भीगे हुए परों को

मेरी मेज़ पर सुखाया
किसी अजनबी ज़बान में
कोई नग़्म-ए-मुहब्बत
मुझे देर तक सुनाया
मुझे ख़्वाब-सा दिखाया
न फ़लक पर थे सितारे (आकाश)
न ज़मीं पर ज़िंदगी थी
मगर एक प्यारी चिड़िया
मेरी मेज़ से अचानक
जो कहीं चली गयी थी
वो जहां से उड़ गयी थी
वहां दूर तक फ़ज़ा में
बड़ी तेज़ रौशनी थी

(4)

मेरी खिड़की में कबूतर भीगने आए न थे
एक तरफ़ रखे हुए फूल कुछ कुम्हलाये न थे
दूसरी जानिब खिंची दीवार पर साये न थे
हो रही थी तेज़ बारिश और तुम्हारी याद में
गीत कमरे में रखी तस्वीर ने गाये न थे

(5)

दीवार पर मकड़ी ट्यूब लाइट को छू रहे मच्छरों को
एक-एक करके
अपनी बांहों में दबोच कर
निगल रही है
मुझे तुम याद आ रहे हो जुदा होते समय
तुमने भी
इसी शिद्दत से मुझे
अपनी बांहों में दबोच लिया था
तुम्हारे मज़्बूत बाज़ुओं का लम्स
मेरी बांहों में कराह रहा है...
लेकिन तुम मुझे

सिपाही की तरह अपने पीछे
हर उम्मीद से महरूम छोड़ गये थे
मकड़ी की तरह
निगल क्यों नहीं लिया मुझे?
वो रुकी हुई सी.डी...
ये ख़ाली बेड...
तुम्हारी गूंज से भरा घर
और रहम के जज़्बे से ख़ाली तुम
हर पल
मेरा गला न घोंटते!

(नया वरक़–23, मुम्बई)

(6)

साधबेला के क़रीब रहने वाले
अदल सोमरू ने
एक पहेली बूझ ली है
दिल चाहता है
उसे इन्आम में
सक्खर बैराज का
कोई नाकारा दरवाज़ा
या एक अंधी डोल्फ़िन
या मीटरगेज़ लाइन पर दौड़ने वाला
इंजन दे दूं
अगर मेरी जगह सर्वत हुसैन
या सारा शिगुफ़्ता
ये नज़्म पढ़ते
तो शायद एक मिट्टी का प्याला
या किसी फ़रिश्ते का दिल
उसके सिपुर्द कर देते! ❑

(दुन्याज़ाद–15, कराची)

जो ख़्वाब था बिखर गया

गुलनार आफ़रीन

थे आबले पड़े हुए
जो ज़ख़्म थे मिले हुए
थे जब्र के जो सिलसिले
मिले थे राहे-ज़ीस्त में (ज़िंदगी)
रखे थे सब संभाल कर
मगर कहीं वो खो गए
नया ये हादिसा हुआ
गुबार बन के छा गया
जो दिल का दर्द बन गया
जली हुई थी राह में
जो मशाले-हयात अभी (जीवन)
न जाने कैसे बुझ गयी
सुनी जो मैंने ये ख़बर
मैं बेख़बर-सी हो गयी
गले में सांस रुक गयी
लगा था जैसे मर गयी
कि जैसे मेरे पांव से
ज़मीन ही सरक गयी
था जैसे कोई ज़ल्ज़ला
वुजूद सारा हिल गया
और आंख अश्क बन गयी
वो सानिहा जो गुज़र गया (घटना)
जो ख़्वाब था बिखर गया
नसीब क्या बदल गया
ज़माना ही बदल गया ❑

आज़ारियां*

नय्यर मस्ऊद

मेरे कमरे के बाहर कोई चीज़ जल रही थी. फिर लड़कों की आवाज़ें आयीं, 'देखो-देखो, हाथी बन गया है."

"एक नहीं, दो दो हैं."

फिर माचिस जलाने की आवाज़ और बारूद जलने की बू आयी. उस वक़्त मुझे वो ख़ुशबू ही मालूम होती थी. कुछ देर की ख़ामोशी के बाद लड़कों की आवाज़ें फिर आयीं, 'ये क्या बना है?"

"देखते रहो."

"फूल मालूम हो रहा है."

"नहीं, फूल नहीं है."

"तो फिर...ओफ़्फ़ोह, ये तो..."

फिर सब के हंसने की आवाज़ आयी. सब मेरे हमउम्र लड़के थे. मैं उनकी आवाज़ें सुन-सुन कर बेचैन हो रहा था, लेकिन कमरे से बाहर नहीं निकल सकता था. बिस्तर से उठने की ताक़त ही नहीं थी. मुझ को एक महीने से मिआदी बुख़ार आ रहा था. लड़के कमरे के अंदर आग नहीं जला सकते थे, बल्कि कमरे के अंदर आ भी नहीं सकते थे. उनकी आवाज़ें दिन भर मुझ तक पहुंचा करती थीं और मैं उन आवाज़ों से अंदाज़ा लगाने की कोशिश करता था कि बाहर कौन-कौन से खेल खेल रहे हैं.

ये मेरी सबसे बड़ी बहन की शादी का ज़माना था. घर मेहमानों से भरा हुआ था. दिन-दिन भर औरतें गाती बजाती रहती थीं. लड़कों की टोली अलग हंगामा मचाये रखती थी. बुख़ार की वजह से दौड़-धूप के खेलों को मेरा जी नहीं चाहता था. इतना दम ही नहीं था, लेकिन आतिशबाजी का मुझे बहुत शौक़ था. और आतिशबाज़ी उस वक़्त घर में दिन भर छुड़ाई जाती थी, कभी मेरे कमरे के क़रीब, कभी दूर आंगन में.

बीमारी के शुरू ज़माने में बहन ही मेरी देखभाल करती थी. मेरे सारे काम

---

* दुःख

उसने अपने ज़िम्मे ले रखे थे. दवा पिलाना, हाथ-मुंह धुलाना, कपड़े बदलना और सबसे बढ़ कर मेरे गुस्से को संभालना, जो पहले भी मुझे बहुत आता था, उसी का काम था. वो मेरे ही कमरे में सोती और रात को कई-कई बार उठ कर मुझे देखती थी, लेकिन शादी के दिन क़रीब आये, तो उसको एक कोठरी में बिठा दिया गया, जहां दूसरी लड़कियां उसे घेरे रहती थीं. मैंने कई दिन से उसे नहीं देखा था. यहां तक कि शादी का दिन आ गया. उस दिन मेरी तबीअत और बिगड़ गयी थी. ग़फ़लत-सी छाई रहती और होश्यार होता, तो बड़ी बेचैनी होने लगती थी. आख़िर मुझे नींद लाने वाली दवा दे कर सुला दिया गया. बरात का आना, निकाह होना, दुल्हन का रुख़सत होना, ये सब हो गया और मैं सोता रहा. जाने से पहले वो अपने दूल्हा के साथ मुझे देखने आयी थी और मेरे पलंग की पट्टी पकड़े देर तक रोती रही थी.

इसके बाद मेरी तबीअत और बिगड़ी गयी. कई उपचार बदले गये, कोई फ़ायदा न हुआ. बीमारी को चालीस दिन से ऊपर हो गये. मां-बाप पहले ही मेरी सेहत से मायूस थे, अब मुझे भी यक़ीन हो गया कि मैं मर रहा हूं. पड़ा हुआ अपनी मौत का तसव्वुर करता और ज़मीन के अंदर दफ़्न करा दिये जाने के ख़याल से वहशत खाया करता था. कभी अजीब-अजीब वसीयतें करने लगता जो मुझको अब ठीक से याद नहीं.

डॉक्टर को, जो मेरा आख़िरी चिकित्सक था, मैंने उसी ज़माने में देखा था. मेरे रिश्ते के एक चचा से उसकी दोस्ती, बल्कि बेतकल्लुफ़ी थी. चचा घुड़दौड़ के शौक़ीन थे और उसमें अपनी ख़ासी दौलत ज़ाए कर चुके थे. डॉक्टर को शायद घुड़दौड़ से दिलचस्पी थी और उसका कोई घोड़ा भी रेस में दौड़ता था. चचा के आग्रह पर जब मेरे बाप ने मुझे देखने के लिये उसको बुलाने का इरादा ज़ाहिर किया, तो मेरी मां कुछ दुविधा के साथ बोलीं, "वो तो सुना, मसख़रे हैं. मरीज़ को कम देखते हैं, इधर-उधर की बातें ज़्यादा करते हैं."

"सब सुनी-सुनाई बातें हैं. आख़िर दिखाने में क्या हर्ज है? उनकी भी दवा दे कर देख लें. तुम जो कुछ कर रही हो, वो भी करती रहना."

मेरी मां इलाज करने वालों से मायूस होकर अब टोने-टोटकों पर उतर आयी थीं और उनका ख़याल था कि उनसे मुझे कुछ फ़ायदा भी हो रहा है. बहरहाल डॉक्टर को दिखाने का फैसला हो गया और चचा जाकर उसे बुला लाये.

डॉक्टर की आवाज़ मकान के बाहर ही से आने लगी थी. वो चचा के साथ घर के अंदर आया, तो उनसे किसी सियासी मसले पर बात कर रहा था. घर के सब लोग मेरे कमरे में जमा थे. डॉक्टर को वहीं लाया गया. सियासी बातचीत ख़त्म करके उसने कमरे में मौज़ूद लोगों पर एक नज़र डाली. मैं पलंग पर चादर ओढ़े लेटा हुआ था. उसने मुझ पर भी सरसरी नज़र डाली. एक बार फिर सब लोगों को नज़र भर देखा और पूछा, "हां भई, मरीज़ कहां है?"

चचा ने मेरी तरफ़ इशारा किया. उसने मुझे ग़ौर से देखा और बोला, "क्यों

भैया, लेटे क्यों हो? खाने, खेलने के दिन हैं, जाओ पतंग उड़ाओ. हम जब तुम्हारे जितने थे..."

कुछ देर तक वो इसी तरह की बातें करता रहा. फिर उसने संजीदा होकर मेरा मुआयना किया. ज़बान देखी, सीना देखने के लिए मेरी क़मीज़ ऊपर की तो ता'वीज़ों पर नज़र पड़ी. मेरे बाप ने सकुचाते हुए कहा, "इनकी अम्मां को इन चीज़ों पर बड़ा अक़ीदा है."

"हमारी अम्मां को भी था, ये देखिये." उसने गिरेबान में हाथ डाल कर हरे ग़िलाफ़वाला एक ता'वीज़ निकाला और उसे चूम लिया, "लेकिन बेग़म साहिबा से कहिये, दवा न छोड़ें."

मेरे बाप उसे मेरा हाल बताने लगे जो उसने ठीक से सुना भी नहीं. वो नुस्ख़ा लिखता और इलाज के बारे में हिदायतें देता रहा. फिर उठ खड़ा हुआ और मुझ से कहने लगा, "अब कोई शे'र याद हो तो सुनाइये."

मुझ को शे'रो-शाइरी से बचकानी दिलचस्पी थी. मैंने उसे कोई उलटा-सीधा शे'र सुना दिया ओर वो उसकी ता'रीफ़ करता हुआ चला गया.

उसके बा'द से मैंने डॉक्टर को नहीं देखा. लेकिन उसकी दवाओं से मुझे फ़ायदा हुआ और मैं ठीक हो गया. उन दवाओं में लाल रंग का एक मिक्सचर और उसका स्वाद मुझे याद रह गया, क्योंकि मेरा ख़याल था, उसी मिक्सचर की वजह से मैं तंदुरुस्त हुआ हूं.

बहन की शादी मुझे आज तक याद है, इसलिये कि उसके रुख़्सत होने के बा'द ही उसकी ससुराल और हमारे घराने में कुछ बातों पर ऐसा मनमुटाव हुआ कि दोनों ख़ानदानों ने एक दूसरे से कोई मतलब न रखने की क़सम खा ली थी और उस पर इस क़दर सख़्ती से क़ायम रहे कि मेरे बाप और मां के मरने पर भी वहां से कोई नहीं आया. मेरी बहन को भी नहीं आने दिया गया और हालांकि वो मेरे ही शहर में रहती थी. मैंने अपनी बीमारी के दिनों के बा'द से उसको नहीं देखा था और अब तो उसकी सूरत भी मेरे ज़ेहन में नहीं थी. लेकिन उसकी शादी का ज़माना कभी-कभी मुझे याद आता था और इसके साथ ही अपनी बीमारी और डॉक्टर और उसका मिक्सचर भी याद आता था.

घुड़दौड़ वाले चचा से अब भी मैं मिलता था. बाप के मरने के बा'द, जब तक मैं अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो गया, वो एक तरह से मेरे सरपरस्त थे. मैं उनसे अब तक बहुत घुलमिल गया था. वो कुछ सनक गये थे और मुझ से इस तरह बात करने लगे थे, जैसे मैं उनका हमउम्र दोस्त हूं. मैं भी उनसे हर तरह की बातें कर लेता था. उन्हें बहुत कम दिखायी देने लगा था और वो घर पर पड़े-पड़े ख़राब हो रहे थे, इसलिये मैं हफ़्ते में कम से कम एक बार उनके यहां जाता और उन्हें ले कर बाहर निकलता था. वो मेरा हाथ पकड़ कर चलते और रास्ते भर ख़ूब चहक-चहक कर बातें करते थे. मगर अब उन्हें लोगों के नाम याद नहीं रहते थे. बातचीत में किसी का

ज़िक्र करते तो 'उस' और 'वो' से काम चलाते थे, इसलिये उनका मतलब समझने में दिक़्क़त होती थी. उनको वापस घर पहुंचा कर मैं फिर आने का वादा करके रुख़्सत होता. उस वक़्त वो मुझ को बहुत दुआएं देते और ये मुझे अच्छा मालूम होता था.

शुरू जाड़े का ज़माना था और चचा पर सर्दी का असर हो गया था. लेकिन जब मैं उनके यहां पहुंचा, तो वो टोपी लगाये, छड़ी लिये मेरा इंतिज़ार कर रहे थे. उस दिन मैं उनको बर्तनों के बाज़ार की तरफ़ ले गया. बाज़ार एक लम्बी गली में था. ये शहर में बर्तनों का सबसे बड़ा बाज़ार था और एक चौड़ी सड़क के बराबर दूर तक चला गया था. कुछ-कुछ दूर पर कोई पतली-सी गली उस बाज़ार से कटती और चौड़ी सड़क से मिल जाती थी. इस वक़्त भी यहां बड़े पतीलों और देगों और दूसरे बर्तनों की तैयारी हो रही थी. ठोंकने, पीटने की आवाज़ें आ रही थीं. तैयार बर्तनों पर क़लई हो रही थी. जगह-जगह क़लईगरों की भट्टियां जल रही थीं और उनकी वजह से उस सायादार गली में गर्मी फैली हुई थी.

चचा ने चलते-चलते ठिठक कर कहा, "अमां, ये कहां ले आए?"

मैंने उन्हें बाज़ार का नाम बता दिया और कहा, "सड़क पर सर्दी ज़ियादा है."

वो कुछ देर मेरा हाथ पकड़े ख़ामोशी से चलते रहे. फिर उन्होंने चहकना शुरू किया. अपनी जवानी के ज़माने की फ़िल्म एक्ट्रेसों और उनकी मशहूर फ़िल्मों का ज़िक्र करते रहे. कुछ बड़े खिलाड़ियों के क़िस्से सुनाये. बर्तन ठोंकने की आवाज़ों में उनकी आवाज़ ठीक से सुनायी नहीं दे रही थी, लेकिन ये सब क़िस्से वो मुझे पहले भी कई बार बता चुके थे, इसलिये मैं चुपचाप उनको साथ लिये चलता रहा. अब उन्होंने एक खिलाड़ी का क़िस्सा छेड़ दिया जो मैंने उनसे अब तक नहीं सुना था. ये क़िस्सा वो बड़े जोश के साथ सुना रहे थे, शायद इसलिये कि उस खिलाड़ी के कई घोड़े रेस में दौड़ते थे. क़िस्सा सुनाते-सुनाते वो एक बार फिर ठिठक गये और अपनी कमज़ोर आंखों से इधर-उधर देखने लगे. फिर बोले, "यार, वो भी यहीं रहता है. बाईं तरफ़ वाली गली में मुड़ो."

"इधर बाईं तरफ़ कोई गली नहीं है."

"है क्यों नहीं? ठीक से देखो."

"दाहिनी तरफ़ गलियां दिखाई दे रही हैं, बाईं तरफ़ तो..."

"क्या बात कर रहे हो!" उन्होंने कहा, "अभी बहुत दिन बा'द इधर आया था. तब वापसी में उसके क्लिनिक पर रुका था. बर्तन क सबसे बड़ी दुकान से मिली हुई गली थी."

मुआमला समझ में आ गया. मैंने कहा, "चचा, आंखों के साथ आपका दिमाग़ भी जवाब दे रहा है. अभी हम वापस नहीं हो रहे हैं और बड़ी दुकान पीछे रह गयी है. उसके पास गली भी है. और वो बाईं तरफ़ नहीं, दाईं तरफ़ है."

चचा को अपनी ग़लती का एहसास हो गया, लेकिन उन्होंने कुछ बिगड़ कर

कहा, "मेरा दिमाग़ ठीक-ठाक है."

"क्या ठीक-ठाक है!" मैंने हंसकर कहा, "आपको यही पता नहीं कि आ रहे हैं या जा रहे हैं."

"ख़ैर ख़ैर, चलो वापस चलो."

हम वापस हुए. कुछ दूर चलने के बा'द मैंने कहा, "लीजिये बड़ी दुकान आ गयी."

"ठीक है, अब दाईं तरफ़ मुड़ो."

"दाईं तरफ़ नहीं, बाईं तरफ़ चचा." मैंने कहा और गली में दाख़िल हो गया.

"यहां डॉक्टर का साइन बोर्ड देखो."

मैंने पूछा, "दाईं तरफ़ या बाईं तरफ़?"

"अमां यार, क्यों परेशान कर रहे हो?"

गली के ख़ात्मे के पास, जहां से चौड़ी सड़क साफ़ दिखाई दे रही थी, एक दो मंज़िला मकान पर डॉक्टर के नाम का बोर्ड लगा हुआ था. उससे मिला हुआ एक नया साफ़-सुथरा क्लिनिक था. इस क्लिनिक के सामने का रुख़ चौड़ी सड़क पर था. मैंने सड़क से आते-जाते में इसको अक्सर देखा था. चचा ने भी क्लिनिक को देख लिया और चहक कर बोले, "यही है!'

हम सामने के रुख़ पर आ गये. मैंने बाहर से क्लिनिक के अंदर देखा और आहिस्ता से चचा को बताया, "कोई जवान से डॉक्टर हैं."

"बेटा होगा', चचा ने धीरे से कहा, "चलो पूछ लेते हैं." और मुझसे हाथ छुड़ाकर क्लिनिक के दरवाज़े पर खड़े हो गये.

डॉक्टर ने मरीज़ों के घेरे से सर उठाकर चचा को देखा, कुछ रुके, फिर ग़ौर से देखा और ख़ुश होकर कहा, "अरे अंकल? आइये आइये."

"तुम ठीक हो बेटा?" चचा ने उसके क़रीब जाते हुए कहा, "हमारा दोस्त अब यहां नहीं बैठता?"

डॉक्टर ने क्लिनिक के पीछे इशारा किया, "वो वहां बैठते हैं. मुलाक़ात के कमरे में. आप कैसे हैं?"

"क्या हाल है उसका?"

"ठीक है, कुछ दिन से आपको याद कर रहे थे. और बताइये, आप कैसे हैं?"

"बस, इसका ख़याल आ गया. सोचा मिलता चलूं. तुम बैठो.",

चचा ने डॉक्टर को खड़े होने से रोका. पलट कर मेरा हाथ पकड़ा और हम दो मंज़िला मकान के दरवाज़े पर आ गये. मैंने दस्तक देने के लिये दरवाज़े की तरफ़ हाथ बढ़ाया, लेकिन चचा ने मुझे रोक दिया और ख़ुद दरवाज़े पर दस्तक दी. पहले एक बार, फिर तीन बार और ज़रा-से अंतराल के बाद फिर पहले एक बार, फिर तीन बार.

जवाब में कुछ देर ख़ामोशी रही, फिर आवाज़ सुनाई दी, "अरे, ये कौन आज रस्ता भूल गया!" आवाज़ कुछ पलों के लिये रुक कर फिर आयी," आओ आओ,

आ जाओ यार."

चचा ने कुछ फ़ख़ के अंदाज़ में मेरी तरफ़ देखा और हम ड्योढ़ी के अंदर दरवाज़े से मिले हुए एक कमरे में दाखिल हुए. डॉक्टर सामने ही आराम कुर्सी पर से उठ रहा था. मैं इतने दिन बाद उसे क्या पहचानता, और अब तो उसके चेहरे पर दाढ़ी भी थी. उसने दोनों हाथ चचा की तरफ़ फैला दिये. चचा मुझ से हाथ छुड़ा कर लपके और डॉक्टर पर क़रीब-क़रीब गिर पड़े. देर तक दोनों ख़ामोशी के साथ एक दूसरे को पकड़े हुए खड़े रहे और मैं एक किनारे रखी हुई कुर्सी पर बैठ कर कमरे का जाइज़ा लेता रहा. आराम कुर्सी से मिला हुआ एक तख़्त भी बिछा हुआ था, लेकिन वो कमरा क्लिनिक ही मालूम हो रहा था. मरीज़ों के चेक-अप वाली एक पतली लंबी मेज़ थी, दीवार पर मोटे काग़ज़ की बड़ी-सी रंगीन तस्वीर लटकी हुई थी जिसमें इंसानी बदन के अंदरूनी हिस्से दिखाये गये थे. तस्वीर के रंग मद्धम पड़ चुके थे. एक अलमारी थी जिसमें अंग्रेज़ी दवाओं की मिली-जुली ख़ुशबू आ रही थी. मैंने उस मिक्सचर की बू को फ़ौरन पहचान लिया जो मेरे लड़कपन में डॉक्टर के यहां से आता था. मुझे उसका स्वाद भी महसूस होने लगा जो ख़ुशबू से कुछ-कुछ अलग था. फिर मैंने मुड़ कर उन दोनों को देखा. अब वे अलग हो चुके थे. चचा तख़्त पर बैठ गये थे. डॉक्टर आरामकुर्सी पर उनकी तरफ़ झुका हुआ बैठा था और दोनों चुपके-चुपके बातें कर रहे थे.

थोड़ी देर बाद मुझे महसूस होने लगा कि वे मेरी मौजूदगी की वजह से खुलकर बातें नहीं कर रहे हैं. मैं उठ कर खड़ा हो गया. चचा और डॉक्टर दोनों ने मेरी तरफ़ देखा. डॉक्टर ने कहा, "भाई, थोड़ी देर तो बैठने दो."

चचा बोले, "हां, और नहीं तो क्या?"

"जा नहीं रहा हूं", मैंने कहा, "ज़रा बाज़ार देख लूं. आप इत्मीनान से बैठिये."

बाहर निकल कर मैं उसी गली के एक छोटे-से चायख़ाने में बैठ गया. मैंने देखा, डॉक्टर के पास अब भी कुछ मरीज़ आते हैं, उनमें बूढ़े ज़ियादा थे. कुछ बुर्क़ापोश औरतें भी थीं. एक औरत के साथ बारह तेरह साल का एक लड़का भी था. वो देर से क्लिनिक के अंदर थे. मैं दोनों के बाहर आने का इंतिज़ार करता रहा. आख़िर कलाई की घड़ी पर नज़र डाली. चचा देर से घर के बाहर थे. उनको वापस ले जाने का वक़्त आ गया था, बल्कि गुज़र भी गया था और अब उनके सोने का वक़्त था. औरत और लड़का अभी क्लिनिक से नहीं निकले थे लेकिन मैं उठा, होटल वाले को चाय के पैसे दिये. ड्योढी में दाख़िल हुआ और ख़ामोशी से क्लिनिक में अपनी कुर्सी पर बैठ गया. चचा तख़्त पर दीवार की तरफ़ मुंह किये हुए लेटे थे और शायद सो गये थे. बुर्क़ापोश औरत मेज़ पर पैर लटकाये हुए बैठी थी, लड़का पास ही खड़ा था. डॉक्टर अब आरामकुर्सी पर सीधा होकर बैठा हुआ था. हाथ में लकड़ी के तख़्ते पर लगे एक काग़ज़ पर कुछ लिखता हुआ वो वाक़ई डॉक्टर मा'लूम हो रहा था. औरत ने उससे कहा, "डाक्टर साहब, एक महीने की दवा लिख दीजिये. बार-बार

आना बहुत मुश्किल होता है."

मैं चौंक पड़ा. ये बिल्कुल मेरी मां का लहजा था. मैंने उसे ग़ौर से देखना चाहा, लेकिन उसने नक़ाब से अपना चेहरा छुपा रखा था.

क्या ये मेरी बहन है? मैंने सोचा, फिर लड़के की तरफ़ देखा तो उसमें मुझे अपने लड़कपन की शक्ल का वहम-सा हुआ. मेरा दिमाग़ सनसनाने लगा. उसी वक़्त डॉक्टर ने काग़ज़ तख़्ते से खींचकर उसकी तरफ़ बढ़ाया और कहा, 'पंद्रह दिन की है. पंद्रह दिन बा'द इसके हाथ हाल कहला देना'', उसने लड़के की तरफ़ इशारा किया.

मैं बढ़ कर चचा के पास पहुंचा और उनका कंधा हिलाने लगा. वो गहरी नींद सो रहे थे, मुश्किल से जागे.

"अमां तुमने जगा दिया'', वो अब भी ऊंघ रहे थे, "हम अपने डॉक्टर के पास गये हुए थे."

डॉक्टर इतने ज़ोर से हंसा कि उसे खांसी आ गयी. कुछ देर खांसने के बा'द बोला, "अब भी इसी तरह के ख़्वाब देखते हो?"

चचा की नींद ग़ायब हो गयी थी. वो भी हंसने लगे, डॉक्टर ने मुझे बताया, "ये हम लोगों के साथ बैठे-बैठे सो जाता था और ख़्वाब में देखता कि हम लोगों के साथ बैठा हुआ है. एक बार तो इसने हद कर दी. हम लोग दर्या के किनारे बैठे हुए थे..."

"छोड़ो यार, दिल न दुखाओ." चचा ने उसकी बात काट दी और तख़्त से उतरने लगे.

मैंने मुड़ कर मेज़ की तरफ़ देखा. औरत और लड़का क्लिनिक से जा चुके थे. चचा उठ कर खड़े हो गये. डॉक्टर से चुपके-चुपके कुछ बातें कीं, फिर उदास हो गये.

डॉक्टर ने आराम कुर्सी पर बैठे-बैठे उनसे, फिर मुझ से हाथ मिलाया. चचा ने मेरा हाथ पकड़ा और हम आहिस्ता-आहिस्ता चलते हुए बाहर आ गये. गली में भीड़ बढ़ गयी थी, चौड़ी सड़क पर इससे भी ज़ियादः भीड़ थी. मैंने वापसी के लिये सड़क को ही चुना. सड़क पार करने के लिये हम थोड़ा रुके. चचा ने शायद अपने आप से कहा, "अब भी मरीज़ आते हैं, इसके पास."

मैंने उन्हें बताया कि आख़िर में जो औरत आयी थी, वो शायद मेरी बहन थी. चचा कुछ नहीं बोले. मैंने फिर कहा, "चचा, वो औरत शायद मेरी बहन थी?"

"तुम्हारी बहन थी?" चचा बोले, "अब तुम भी ख़्वाब देखने लगे?"

इसके बा'द वो बिल्कुल ख़ामोश हो गये और हमने सड़क पार कर ली. ❑

अदबीस्तान, दीनदयाल मार्ग, लखनऊ

टॉयलेट पेपर

फ़ैसल नवाज़ चौधरी



ये अजीब संयोग है कि आज शुक्रवार और तेरह तारीख़ है. केलेंडर में इस तरह के मिलाप को यूरोप में घटनाओं से जोड़ा जाता है. लेकिन आज से दस साल पहले, जब मैंने रेगब्यूएन में काम शुरू किया था, तब ये मिलाप मेरे लिये ख़ुशियां लाया था. मगर इतना अर्सा गुज़रने के बा'द मुझे यूरोप की आबो-हवा ने मनोवैज्ञानिक तौर पर इसके डर की जकड़ में ले लिया है.

आज हमारी सेक्रेटरी लिज़े ने मुझे फ़ोन पर बताया कि तुम्हें काम से अलग कर दिया गया है, तो मुझे केलेंडर के इस मिलाप की मनहूसियत पर यक़ीन आ गया.

''शाकिर, तुम दफ़्तर ज़रूर आना, जोहान तुम से मिलकर ज़रूरी बातें करना चाहता है.''

आज मैं तेज़ी से अपने दफ़्तर की सीढ़ियां चढ़ रहा हूं और मुझे गुस्से से ख़ौफ़ आ रहा है कि कहीं आज मुझ से कोई ग़लती न हो जाए. इस बिल्डिंग की सीढ़ियां मैं रोज़ाना कितनी बार चढ़ता था! लेकिन आज इन सीढ़ियों का रास्ता इतनी जल्दी तय नहीं हो रहा और मेरा जिस्म गुस्से से कांप रहा है. मैंने ज्योंही दफ़्तर का दरवाज़ा खोला, मेरा बॉस एकदम कुर्सी से उठ खड़ा हुआ जैसे वो मेरे ही इंतिज़ार में था.

लिज़े ने रहस्यमय मुस्कराहट से मेरी तरफ़ देखा जैसे वो मुझ से कोई बदला लेना चाहती हो. मुझे महसूस हुआ कि जैसे वो कह रही हो–सुनाओ शाकिर! तुमने मेरी तज्वीज़ ठुकरा दी थी और आज तुम्हें कितनी आसानी से बाहर फेंक दिया गया.

मैं लिज़े को नज़रअंदाज़ करते हुए सीधा जोहान की तरफ़ बढ़ा. मुझे गुस्से में

 शेष

अपनी तरफ़ आता देख कर 'हाय शाकिर' कहते हुए उसने अपना हाथ बढ़ाया, लेकिन मैंने गुस्से की वजह से उसके साथ हाथ मिलाना मुनासिब न समझा.

जोहान कहने लगा, "टेक इट इजी शाकिर...कूल डाउन शाकिर! मैं कुछ ज़रूरी बातें करना चाहता हूं. तुम मुझे अच्छी तरह जानते हो कि तुम मेरे लिये क्या अहमियत रखते हो!"

"जोहान! मैं तुम्हारी फ़िज़ूल बातें सुनने यहां नहीं आया. मुझे सिर्फ़ इस बात का जवाब चाहिये कि मुझे काम से क्यों निकाला गया? क्या मेरी वज्ह से तुम्हें और तुम्हारी फ़र्म को कोई नुक़सान पहुंचा है?"

"देखो शाकिर! तुम सबसे सीनियर और भरोसामंद वर्कर थे. मैंने एक, एक करके तमाम को फ़र्म से निकला दिया. मैंने तुम्हें पहले ही कहा था कि तुम काम छोड़ दो लेकिन तुमने कभी सीरियसली नहीं लिया. तुम्हारे लिये बेहतर यही है कि तुम किसी दूसरी जगह काम ले लो. मैं अपने पीछे तमाम रेत के पुल गिरा देना चाहता हूं. तुम इस वक़्त गुस्से में हो, तुम्हारी समझ में ये बात नहीं आयेगी. मैं जानता हूं और महसूस कर सकता हूं कि तुम पर क्या गुज़र रही है. मैं तुम्हें इस वक़्त कोई मा'क़ूल जवाब नहीं दे सकता."

मुझे ये सुन कर और भी गुस्सा आ गया. मुझे लिज़े की बातें याद आने लगीं कि जोहान ने किस तरह मेरी शराफ़त का नाजाइज़ फ़ायदा उठाया है. उसने मुझे इस्ते'माल करके कितनी आसानी से बाहर फेंक दिया है. ये मेरी बेवकूफ़ी थी, वर्ना इसको ये मौक़ा न मिलता. मुझे वक़्त से फ़ाइदा उठाना चाहिये था. अगर मैंने वो सारी रक़म अपनी जेब में डाली होती जिसका मेरे पास मौक़ा भी था, तो आज शायद मुझे काम से निकलने का इतना ग़म न होता.

जोहान और भी मेरे क़रीब आ गया. उसने अपने बैग से पचास हज़ार क्राउन निकालते हुए मुझसे कहा, "लो शाकिर! ये तुम्हारे लिये हैं."

लेकिन मैंने अपना हाथ जेब से न निकाला.

जोहान कहने लगा, "देखो शाकिर! हालात और वक़्त हमेशा एक जैसे नहीं रहते. हमें वक़्त के साथ-साथ चलना चाहिये और आज वक़्त का तक़ाज़ा है कि तुम ये पचास हज़ार क्राउन रख लो और जब तक तुम्हें काम नहीं मिलता, तुम हर महीने आकर अपनी तनख़्वाह ले जाया करो. या दूसरे पाकिस्तानियों की तरह तुम भी एक दुकान खोल लो. मैं तुम्हारे लिये लोन का बंदोबस्त कर दूंगा."

"देखो जोहान! मुझे मालूम है कि तुम ये सब कुछ वक़्त टालने और मुझे झूठी तसल्लियां देने के लिये कर रहे हो. मुझे तुम्हारी ये रक़म नहीं चाहिये. मेरे लिये इन काग़ज़ात के टुकड़ों की टॉयलेट पेपर से ज़्यादा अहमियत नहीं है. मेरा ज़मीर और मेरी ख़ुद्दारी इन क्राउनों से ज़्यादा क़ीमती हैं. मुझे मा'क़ूल जवाब चाहिये कि तुमने मुझे

काम से क्यों निकाला है?"

जोहान गुस्से में आ गया. मेज़ पर मुक्का मारते हुए कहने लगा कि बार-बार 'निकालने' का शब्द इस्ते'माल मत करो. तुम नहीं समझते कि मैं कितनी प्रॉब्लम में हूं. हर सवाल का जवाब बरवक़्त मिलना कई बार मुश्किलें पैदा कर देता है. तुम भी एक दिन समझ जाओगे कि मेरा फ़ैसला ठीक था. मैं तुम्हें हरग़िज खोना नहीं चाहता, लेकिन मेरी मजबूरी को समझो."

"जोहान! कौन-सी मजबूरी है?"

जोहान ने रक़म मेरी जेब में डालते हुए कहा कि इस वक़्त ये रख लो, कल फिर वापस आना. हम ठण्डे दिल व दिमाग़ से इस पर संजीदगी से बात करेंगे और हालात से निपटने का कोई रास्ता निकालेंगे."

"जोहान! कौन-से हालात?" मैं रक़्म को टेबल पर फेंकते हुए तेज़ी से बाहर निकल आया. सारे नोट कमरे में बिखर गये. एक नोट मेरे पीछे, दफ़्तर के कॉरीडोर में आ गया. मैं जितनी देर से ऊपर पहुंचा था, उतनी ही जल्दी नीचे जा रहा था. मेरे साथ एक नोट चौथी मंज़िल की सीढ़ियों के दरमियान स्प्रिंगनुमा शून्य से गिरता हुआ पहली मंज़िल पर आ रहा था. मुझे पीछे से लिज़े की आवाज़ सुनायी दी, जो नोट का पीछा कर रही थी. "शाकिर! रुक जाओ, रुक जाओ. हम तुम्हारे लिये सब कुछ करेंगे. प्लीज़ रुक जाओ."

ज्योंही मैं बिल्डिंग से निकला तो एक टैक्सी ड्राइवर ने हॉर्न बजा कर मुझे एहसास दिलाया कि मैं ट्रैफ़िक का क़ानून तोड़ रहा हूं. दूसरी तरफ़ से नाज़ और आरिफ़ मुझे देख कर क़हक़हा लगाते हुए कहने लगे, "सुना है शाकिर, तुम्हें काम से निकाल दिया गया है? ये जोहान ने अच्छा नहीं किया. तुमने तो...शाहिद, अब वो हमें भी निकाल देगा. लेकिन हम इतने ज़रूरी नहीं, क्योंकि हमारे पास तो सिर्फ़ रेस्टोरेंट की सफ़ाई और डिश वाशिंग का काम है."

जब मैंने ग़ौर से उनको देखा, तो दोनों ख़ामोश हो गये, क्योंकि उनको मेरी वजह से काफ़ी सहूलतें थीं. मैंने उनसे बात करना मुनासिब न समझा और पार्क में जाकर बैठ गया. पतझड़ हो रही थी. मैंने सोचा कि शायद मुझ पर भी पतझड़ उतर रही है और मुझे यूं लगा कि जैसे मैं सारे लोगों की निगाहों का केंद्र बन गया हूं और हर कोई मुझ पर आवाज़ें कस रहा है कि : शाकिर, तुम्हें काम से निकाल दिया गया. शाकिर, तुम्हें काम से निकाल दिया गया...

मैं इन्हीं सोचों में कितनी देर वहां बैठा रहा. मेरे ज़ेह्न में एक फ़िल्म चलने लगी और मैं अतीत की यादों में खो गया. जब मैंने दस पहले रेगनब्यूएन में काम शुरू किया था, कितनी जिद्दोजहद के बाद इस मुक़ाम पर पहुंचा था. एक दिन हमारे पुराने बॉस ने स्टाफ़ मीटिंग के दौरान में कहा कि मैंने रेगनब्यूएन का 45 फ़ीसद हिस्सा

मिस्टर जोहान को बेच दिया है. आज के बा'द सारा कण्ट्रोल उन्हीं के हाथ होगा. जोहान ने बारी-बारी हम सब से हाथ मिलाया और वादा किया कि सब काम मा'मूल के मुताबिक़ चलते रहेंगे.

दूसरे दिन जोहान मुझे और आरिफ़ को ग्रांड होटल की पांचवी मंज़िल पर स्थित ख़ूबसूरत रेस्टोरेंट में ले गया. सूरज चमक रहा था और लोगों की ख़ूब चहल-पहल थी. उसने अपने और आरिफ़ के लिये बियर मंगवायी जब कि मैंने कहा कि मैं एल्कोहल नहीं पीता. जोहान चाहता था कि हम रेस्टोरेंट और नाइट क्लब की सारी बातें उसको बताएं. कहां-कहां क्या ख़राबी है?

आरिफ़ उसको कुछ बताने ही वाला था कि मैंने बात का रुख़ बदल दिया. जोहान समझ गया कि मैं नहीं चाहता कि हम अपने बॉस की बातें उसके सामने करें.

दूसरे दिन जोहान ने स्टाफ़ मीटिंग का बंदोबस्त किया. हॉल में सब वर्कर जमा थे. जोहान कहने लगा कि मैं कुछ बदलाव लाना चाहता हूं. पुराना मैनेजर अगले महीने से काम छोड़ रहा है और आज के बाद रेगनब्यूएन का नया मैनेजर मि. शाकिर होगा.

उसने अपने चाबियों का एक गुच्छा मेरी तरफ़ फेंक दिया. सब वर्कर एक दूसरे को देखने लगे. मेरे लिये भी ये अनपेक्षित था, लेकिन मैंने इसको चैलेंज समझ कर क़बूल कर लिया.

मैं रोज़ाना की आमदनी बैंक बॉक्स में डाल कर आता. रेस्टोरेंट का पूरा कण्ट्रोल मेरे हाथ में था. रेस्टोरेंट के तमाम ऑर्डर और वसूली ख़ुद करता. सब काम रूटीन के मुताबिक़ चल रहे थे कि अचानक एक दिन रेस्टोरेंट में चोरी हो गयी. जब मैं वहां पहुंचा, तो पुलिस पहले से ही वहां मौजूद थी.

पुलिस ने मेरे साथ ऐसा बर्ताव किया कि जैसे वो मुझे पहले से ही जानते थे. मैंने सारी चीज़ें चेक करके जोहान से कहा कि मुझे लगता है कि चोरी हुई ही नहीं, क्योंकि रात को मैं ख़ुद तीन बजे क्लब बंद करके गया हूं. तमाम चीज़ें अपनी-अपनी जगह हैं और कोई चीज़ कम नहीं हुई.

जोहान कहने लगा, "शाकिर! तुम अपना मुंह बंद रखो. तुम्हें कोई नहीं पूछेगा. मुझे अपना काम करने दो. तुम्हें फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं. मैं सब कुछ ख़ुद संभाल लूंगा."

दूसरे दिन वही पुलिस वाला रेस्टोरेंट में आ गया. उसके लिये फ़्री खाना और शराब का बंदोबस्त, सब रेस्टोरेंट की तरफ़ से किया गया, बल्कि मुझे उस बिल पर साइन भी करने पड़े.

मि. जोहान ने इंश्योरेंस कंपनी से कितनी रक़्म हासिल की, मुझे मा'लूम न हो सका, बल्कि फिर कई बार चोरी हुई और रेस्टोरेंट के सामान में गड़बड़ होने लगी.

चीज़ें एक रेस्टोरेंट से दूसरे में मुंतक़िल होने लगीं. हर बार जोहान कहता कि मैं सब कुछ संभाल लूंगा, तुम्हारे ऊपर कोई इल्ज़ाम नहीं आयेगा.

रेस्टोरेंट रूटीन के मुताबिक़ चलता रहा और स्टाफ़ पार्टी आ गयी और सारा सामान रेगनब्यूएन का इस्तेमा'ल किया गया. पार्टी के बा'द रात के चार बजे लिज़े ने मुझ से कहा कि शाकिर, क्या आज तुम मुझे घर ड्राइव कर सकते हो?

"क्यों नहीं लिज़े. मैं घर जाते हुए तुम्हें ड्रॉप करता जाऊंगा." जब मैं उसे गाड़ी से उतारने लगा, तो वो कहने लगी. "शाकिर! क्या तुम आज की रात मेरे साथ गुज़ार सकते हो? मैं तुम्हें हमेशा से पसंद करती हूं और तुम्हारी ईमानदारी ने मुझे बहुत प्रभावित किया है. तुम हमेशा मेरे लिये...मैं तुम्हें बहुत..."

"लेकिन लिज़े, मेरे लिये ये सब कुछ करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि तुम इस वक़्त होश में नहीं हो. कल काम पर बात करेंगे."

"शाकिर! होश में मैं नहीं, बल्कि तुम नहीं हो. तुम्हें मा'लूम ही नहीं कि तुम आंखें बंद किये हुए क्या कर रहे हो? जब तुम्हें होश आयेगा, तो बहुत देर हो चुकी होगी."

"तुम्हारा क्या मतलब है लिज़े? मैं क्या कर रहा हूं?"

"देखो शाकिर! मैं सेक्रेटरी हूं और तुम मैनेजर. अगर हम दोनों मिल जाएं, तो काफ़ी फ़ायदा होगा. किसी को रेस्टोरेंट में पता नहीं चलेगा. तुम एक अच्छी ख़ासी रक़म रोज़ाना जेब में डाल सकोगे जिससे तुम्हें माली फ़ायदे के साथ-साथ बहुत सारा अनुभव भी होगा जिसकी तुम्हें जानकारी नहीं. तुम नहीं जानते कि जोहान तुम्हारी ईमानदारी से कितनी रक़म बना चुका है. उसने बस एक साल पहले 45 फ़ीसद हिस्सा ख़रीदा था और आज वो सारे रेस्टोरेंट और क्लब का मालिक है, बल्कि उसने तीन, चार और भी ख़रीद लिये हैं. जानते हो, जो चीज़ें रेगनब्यूएन से ग़ायब होती हैं, वो कहां जाती हैं? ये सब ग़ैर क़ानूनी हैं. लेकिन ये लोग तुम्हें इस्ते'माल कर रहे हैं. तुम नर्म मिज़ाज और अच्छे आदमी हो, इसलिये तुम्हें ये बड़ी तनख़्वाह देकर ख़ुद बहुत बड़ा फ्रॉड करते हैं जिसका तुम्हें इल्म नहीं है. रेस्टोरेंट की तरफ़ से जो तुम्हें गाड़ी और मकान दिया गया है, ये सिर्फ़ तुम्हारी आंखें बंद करने के लिये दिया गया है. शाकिर, तुम्हें मालूम है कि आज जो स्टाफ़ पार्टी हुई है, उस पर कितना ख़र्च हुआ है? और हम रेगनब्यूएन के हिसाब में क्या लिखेंगे?... आओ और मेरे साथ मिल जाओ. हम मिल कर बहुत सारी रक़म इकट्ठी कर लेंगे. हम अपना रेस्टोरेंट ख़रीदेंगे."

"लेकिन लिज़े मेरे लिये ये सब कुछ करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि मैं ग़द्दारी नहीं कर सकता और चोरी करना मेरे लिये नामुमकिन ही नहीं, बहुत बड़ा गुनाह है और जहां तक तुम्हारी बात है, मैं तुम्हें हमेशा पसंद करता हूं लेकिन किसी और नज़र से. लिज़े मैं मुसलमान हूं और...शादी से पहले मेरे लिये ये सब... ?"

 शेष

"शाकिर प्लीज़, मुझे ग़लत मत समझो. आओ मेरे साथ, और लिज़े ने मुझे अपने बाज़ुओं में ले लिया और...प्लीज़ लिज़े, मैं ऐसा नहीं कर सकता और मुझे..."

उसने एक ज़ोरदार धक्का देते हुए सख़्त गुस्से में 'ब्लडी इडियट' कहते हुए दरवाज़ा ज़ोर से अंदर से बंद कर लिया.

और आज कई साल बा'द अकेले पार्क में बैंच पर बैठे हुए मुझे लिज़े के शब्द याद आने लगे. मुझे अपने ऊपर गुस्सा आने लगा कि मैंने वक़्त से फ़ायदा क्यों नहीं उठाया! मैं इतना ईमानदार क्यों बना रहा? अगर मैंने रेगनब्यूएन से फ़ायदा उठा कर अपना रेस्टोरेंट खोला होता, तो आज मुझे ये दिन न देखना पड़ता. और मुझे इतनी जल्दी जोहान बाहर न फेंक देता.

मैं तो रेगनब्यूएन को ही अपना सब कुछ समझ कर काम करता था. मुझे तो इस जगह से एक ख़ास लगाव था और ये जगह तो मेरा दिल थी. मैंने कभी भी रेस्टोरेंट बंद होने नहीं दिया. संयोग से अगर कभी कोई वर्कर बीमार होता तो मैं ख़ुद उसकी जगह काम करता. रेस्टोरेंट की कोई जगह ऐसी न थी जहां मैंने काम न किया हो. क्या लिज़े की बात पर मुझे अमल करना चाहिये था? बार-बार लिज़े के शब्द मेरे ज़ेहन में गूंजने लगते...नहीं, मुझे ऐसा नहीं सोचना चाहिये. बुराई का जवाब बुराई से नहीं. मुझे बुरा आदमी नहीं बनना. कई ख़याल मेरे दिल में आने लगे. क्या हुआ? अगर उसने मुझे काम से निकाल दिया. शायद इसी में कोई बेहतरी हो. मैं इन्हीं ख़यालों में अपने घर चला आया कि शायद कुदरत को यही मंज़ूर था और मेरे लिये कोई बेहतर सूरतेहाल पैदा होगी.

दूसरे दिन किसी ने सुबह-सवेरे मेरी घंटी बजायी. ये कौन हो सकता है?...दरवाज़े पर जोहान खड़ा था और कह रहा था कि शाकिर, दरवाज़ा खोलो. मैं तुम से एक ज़रूरी बात करना चाहता हूं.

मेरा दिल नहीं चाहता था, लेकिन फिर भी हमने कई साल इकट्ठे काम किया था और फिर वो मेरा बॉस भी था. मुझे उसकी बात सुन लेनी चाहिये. कल जो कुछ हमारे दरमियान हुआ था, उसे भूल जाना चाहिये. मैंने दरवाज़ा खोल दिया तो जोहान अंदर आ गया.

"प्लीज़ शाकिर! ये रक़म रख लो. कुछ भी हो, हालात कैसे भी हों, तुम मेरे लिये बहुत कुछ थे. आयंदा अगर तुम्हें कोई काम हो तो मेरे पास ज़रूर आना. मैं तुम्हारी मदद ज़रूर करूंगा लेकिन अब हालात मेरे क़ाबू में नहीं. एक दिन जान जाओगे कि मेरा फ़ैसला ठीक था. तुम मेरी मजबूरी समझ जाओगे." उसने 50 हज़ार क्राउन मेज़ पर रख दिये और चला गया.

लेकिन मेरे लिये ये रक़म कुछ भी नहीं थी, क्योंकि मुझे अपने सवाल का

जवाब अभी तक नहीं मिला था कि मुझे काम से क्यों निकाला गया.

दो महीने गुज़र गये कि अचानक टी.वी. पर ख़बर आयी कि जोहान को पुलिस ने गिरिफ़्तार कर लिया. उसके तमाम रेस्टोरेंट दिवालिया हो गये और जोहान 240 मिलियन क्राउन मुख़्तलिफ़ बैंकों और इंश्योरेंस कम्पनी को दिये हैं. पुलिस ने जोहान का पासपोर्ट ज़ब्त कर लिया. उसके बाहर जाने पर पाबंदी लगा दी गयी. पुलिस उसके तमाम ग़ैर मुल्की एकाउंटों की जांच-पड़ताल इंटरपोल से करवाएगी.

दूसरे दिन मैं शहर में घूम रहा था कि अचानक मुझे लिज़े मिल गयी और हम कैफ़े में जाकर कॉफ़ी पीने लगे. जब मैं घर जाने लगा, तो लिज़े कहने लगी, "शाकिर, तुम्हें याद है कि स्टाफ़ पार्टी के बा'द तुम मुझे घर छोड़ने ले गये थे. आज मैं चाहती हूं कि तुम्हें अपनी गाड़ी पर घर छोड़ कर आऊं, इन्कार मत करना. अब तो तुम जूठे भी हो चुके हो."

"लिज़े, शर्मिन्दा क्यों करती हो? मैं तो आज भी वैसा ही शाकिर हूं और मेरे दिल में आज भी तुम्हारी उतनी ही क़द्र है."

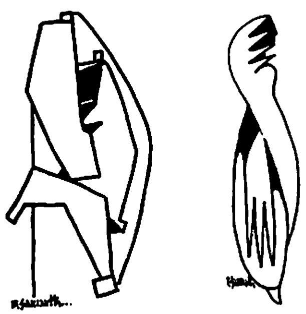
गाड़ी से उतरते हुए मुझे लिज़े कहने लगी, "शाकिर! तुम्हें पता चला कि तुम्हें काम से क्यों निकाला गया?"

"नहीं लिज़े. ये तो मेरे लिये आज भी एक पहेली है और शायद मैं कभी भी इसे हल न कर पाऊं."

"शाकिर, तुम्हें इसलिये निकाला गया, क्योंकि तुम जोहान और रेगनब्यूएन के बारे में ज़ियादा ही जानते थे. कई बार बहुत ज़ियादा जानना ख़तरनाक होता है और यही तुम्हारा जुर्म था."

मैं आज—कई साल बा'द भी समझ नहीं पा रहा हूं कि जब जोहान ने 240 मिलियन क्राउन का फ़्रॉड किया था, तो उसने मुझे काम से निकाल कर ख़ुद बचने की कोशिश की थी या फिर वो मुझे बचाना चाहता था. ❑

इटरस्टेड सलेटा-90, नोर्थ-0659, ओस्सलो (नार्वे)



सद्भावना के पुल

जसवन्तसिंह विरदी



'मेरे लेखक भाई! मुझे और मेरी अम्मी को आप का सुख-संदेश मिल गया है, और हम आप के शुक्रगुजार हैं...

पत्र इस तरह शुरू हुआ था—'मगर भाई जी, पहले मैं आपको अपने बारे में बता दूं.'

मैंने कहा—'हां, बताइये.'

'मैं मिस्त्री मेहरदीन की बेटी मेहरां हूं. मेरा यह नाम मेरे अब्बाजी ने रखा था.'

'बहुत अच्छा नाम है, मेरी बहन!' मैंने कहा—'तुम सचमुच में मेहरां हो'...

'मैं पचास वर्ष की हो गई हूं.' मेहरां ने कहा—'मेरा जन्म देश की आज़ादी के बाद 1955 में हुआ था...'

मैंने कल्पना में ही मेहरां की शक्ल-सूरत को देखा, उसके मासूम चेहरे को भी.

'मगर मैंने शादी नहीं की थी.' मेहरां ने फिर कहा—'मेरा अब्बा मेरे जन्म के छह वर्ष बाद फ़ौत हो गया था और मैंने अपनी अम्मी के लिए शादी नहीं की. मेरा भाई मुझसे चार वर्ष छोटा है.'

पत्र का काग़ज़ ख़त्म हो गया था, इसलिए, अन्त में नीचे लिखा हुआ था—'भाई जी, बाक़ी फिर लिखूंगी.'

मेहरां का पत्र खत्म हो गया, मगर मेरे लिए कितने ही सवाल छोड़ गया.

पहली, संयोग की बात यह थी कि मेहरां का अब्बा 1961 में फ़ौत हुआ था जबकि मेरा पिता मिस्त्री मीहांसिंह हमारे मोहल्ला गोबिन्दगढ़, जालन्धर वाले घर में 1961 की मई को अपनी अन्तिम सांसें पूरी कर गया था. रेलवे पुलों के दोनों मिस्त्री

एक ही वर्ष में किसी अगले जहान में चले गए थे. क्षणभर के लिए मेरा मन उदास हो गया. मेरे मन में दूसरा सवाल यह उभरा, 'मेहरां का छोटा भाई अब कहां है?'

मैं कितने ही दिनों तक इंतिज़ार करता रहा, मगर कोई सुख-संदेश न आया तो मन में घबराहट होने लगी–'अमन-अमान हो...'

कई बार सोचा था–'मेहरां मेरी क्या लगती है?'

फिर मुझे स्मरण होने लगता, मेरा पिता मिस्त्री मीहांसिंह कहा करता था–'बेटा! मैं और मिस्त्री मेहरदीन दस्तार बदल कर भाई बने हुए थे!'

मैं पूछता–'क्या मिस्त्री मेहरदीन दस्तार बांधता था?'

पिता ने बताया था–'पहले तो नहीं बांधता था, मगर जब मैंने उसे दस्तार भेंट में दी, तो उसने बांध ली और वह मेरे लिए भी एक दस्तार ख़रीद कर लाया था.'

मैं पूछता–'आपकी बहुत मोहब्बत थी?'

पिता कहता–'लोग हैरान होते थे–ये तो सगे भाई दिखते हैं...'

जिस वक़्त बंटवारा हुआ, मेरा पिता और मिस्त्री मेहरदीन दर्रा-ख़ैबर के क्षेत्र में लंडी कोतल के मुक़ाम पर एक रेल पुल बनवा रहे थे. एक तरफ़ का काम मेरे पिता के पास था और दूसरी तरफ़ से मिस्त्री मेहरदीन काम करवा रहा था–और बंटवारा हो गया.

'सारे लेबर मुसलमान थे.' मेरा पिता कहता–'मगर मिस्त्री मेहरदीन ने लेबर से कहा–'मेरे भाई मिस्त्री मीहांसिंह को उसके घर जालंधर तक पहुंचाना, अल्लाह पाक की तरफ़ से हमारा ईमान है.'

मैं हैरानी से बातें सुनता. कभी पूछता–'और वो लोग आप को जालंधर तक छोड़ने आये थे?'

'हां ऽऽ' पिता ने कहा तो फिर मैंने हैरानी से पूछा–'कैसे?'

'सौ संकटों में से गुज़र कर.' पिता ने जैसे गौरव से बताया–'उनके लिए मेरी जान बहुत क़ीमती थी.'

'आप कुछ बतायें!'

'कभी फिर...'

उस समय मेरा बाप आंखें मूंद कर पश्चिमी पंजाब की उन सभी जगहों पर पहुंच जाता, जहां कहीं उसने रेलवे पुलों की उसारी (निर्माण) की थी.

कभी रोड़ी सखर.

कभी अटक.

कभी बदामी बाग़ लाहौर.

कभी झेलम के मुक़ाम पर, कभी चिनाब पर चुंड स्टेशन के पास...

अपनी समाधि में से निकलकर पिता कहता–'दो मुसलमान नौजवान मुझे लंडी

कोतल से जालंधर छोड़ने के लिए आये थे. वे जाने लगे, तो मैंने उन्हें कहा था– 'मिस्त्री मेहरदीन से कह देना–पाये अभी गीले होंगे, उन पर रखे हुए गार्डर अभी पक्के न करे, रिबटें मत लगवाएं...समझ गए...'

फिर वह हंसने लगा...

मैंने कहा–'आगे कहिये!'

पिता बोला–'उन नौजवानों ने कहा था...'

'क्या?' मैंने फिर पूछा तो पिता ने बताया था–'मेरे शेर बेटे कहने लगे–मिस्त्री जी, हम लोग लंडीकोतल से जालंधर तक बीस दिनों में पहुंचे हैं, पाये तो कब के ही सूख चुके होंगे...'

मैं हैरान हुआ–'अभी तक भी पिता का ध्यान वहीं था...'

पिता ने कहा–'यह वर्क कल्चर थी.'

मैंने पूछा था–'और आपने उन नौजवानों को क्या कहा था?'

पिता ने हंस कर कहा था–'शाबाश मेरे शेर बच्चो! तुम बहुत कारीगर हो गए हो. पाकिस्तान का नाम दुनिया में रौशन करोगे...मेहरदीन से कहना–गार्डरों की रिबटें लगवा दें...'

फिर पिता उदास हो जाता–'मैं कितनी ही देर तक सोचता रहा, मेहरदीन को एक और दस्तार भेज दूं...मगर किसके हाथ भेजता?'

मैं कहता–'शायद आपका दस्तार-बदल भाई भी यही बात सोचता हो.'

पिता ख़ामोश रहता.

मिस्त्री मेहरदीन के परिवार से मुझे जो भी बात करनी होती, उस बात को मैं घर के कोने में लगे हुए बांसों के कुंज के पास बैठ कर कह देता था.

'सुनते हैं आप!'

कितने ही वर्ष पहले मुझे एक बुद्धपुरुष ने कहा था–'आपने अपने सगे-सम्बन्धी और सजन-मित्र तक जो बात भी पहुंचानी हो, वह बात बांस-कुंज के पास बैठकर कर दीजिए...'

मैंने कहा था–'हैरानी है!'

'नहीं हैरानी नहीं!' बुद्धपुरुष ने कोई रहस्य बताने के अंदाज़ में कहा था– 'बांस-कुंजों के पास जो बात भी की जाए, वह जहान भर में फैल जाती है...'

'यह कैसे सम्भव है संत जी?'

'बांस को यह वरदान प्राप्त है, वो हर बात को दूर तक पहुंचा देते हैं...'

इसलिए आंगन के एक कोने में मैंने बांस उगा लिए और मिस्त्री मेहरदीन के परिवार को याद किया. सुब्ह के वक़्त जब लोग ख़ुदा का नाम लेते हैं, बिल्कुल उसी वक़्त मैंने बांस-कुंज के पास बैठकर कहा था–'मैं मिस्त्री मीहांसिंह का लेखक पुत्र

अपने पिता के दस्तार-बदल भाई मिस्त्री मेहरदीन के परिवार को याद कर रहा हूं...'

उधर से मेहरां की आवाज़ आई थी–'मेरा अब्बा नहीं रहा, मगर आपके अब्बा ने जो दस्तार मेरे पिता को भेंट की थी, उसे मेरी अम्मी ने अभी तक संभाल कर रखा हुआ है, भाई जी!'

मैंने पूछा था–'आपकी अम्मी कैसी हैं?'

मेहरां ने बताया–'अभी तक ठीक है...'

'और आपका भाई?'

'वह दोहा-क़तर में फोरमेन है, अल्लाह के करम से'...

'और आप? मेरी बहन!' मैंने पूछा, तो जवाब मिला–'मैं स्कूल टीचर हूं, सरगोधा के स्कूल में.'

मैंने उसे बताया–'मैं आठवीं जमात में पढ़ाई छोड़कर रेलवे ब्रिज वर्कशॉप जालंधर छावनी में कुली भर्ती हो गया था, मगर पढ़ाई करके स्कूल टीचर और फिर कॉलेज टीचर बन गया...'

मेहरां ने कहा–'भाईजान! आपका लम्बा तज्रबा है...मुझे अच्छी टीचर बनने के गुर बताते रहना, वैसे मैं रिटायर होने के नज़दीक हूं...'

मैंने कहा–'मेरी बहन ऐसी टीचर हो जिसे पाकिस्तान भर की स्कूली लड़कियां आदर से सलाम करें...'

मेहरां ने कहा–'दुआ देते रहिये.'

मैंने कहा–'मेहरां! आपने एक बात तो पूछी ही नहीं...'

'वह कौन-सी?'

'ख़ानदानी कारीगरी के काम की...'

'हां, बताइये...आप ने वर्कशॉप और रेलवे पुलों के काम को क्यों छोड़ा?'

मैंने कहा–'मैं लिखना चाहता था...'

'यह अच्छी बात थी, अल्लाह की मेहर रहे.'

मैंने फिर कहा–'मैं टीचर बनकर बच्चों की ख़िदमत करना चाहता था...'

मेहरां बोली–'मेरे मन में भी यही बात थी...और मैं कामयाब हो गई...'

'हम एक जैसा सोचते हैं...'

'यह सद्भावना की निशानी है...'

मैंने मेहरां को बताया–'जब मैंने वर्कशॉप और पुलों पर काम करने की नौकरी छोड़ दी, तो मेरे अब्बा ने कहा–'नदियों पर पुल बनाना एक अच्छा काम है. हम नदी के आर-पार के लोगों को एक-दूसरे से जोड़ते हैं, यह एक नेक काम है...'

मेहरां बोली–'आपके अब्बा की बात ठीक थी, वह भला सोचते थे...'

मैंने कहा–'हां, मगर मैंने अपने पिता से कहा था–'लेखक बनकर मैं भी पुल

बनाऊंगा...'

'तब, फिर?' मेहरां ने उतावलेपन से पूछा तो मैंने कहा–'पिता ने मुझे हैरत से देखा था.'

'आपका अब्बा अज़ीम था!' मेहरां ने फिर कहा–'हमारे घर में भी पुलों की तस्वीरें हैं, जिनमें आपका और मेरा अब्बा साथ-साथ बैठे हैं...'

मैंने कहा–'बीबी! वो तस्वीरें हमारे घर में भी हैं, मिले तो इकट्ठे उन्हें देखेंगे...'

ये बातें कभी-कभी शाम के वक़्त, कभी सुब्ह को होती थीं. अगले कई दिनों तक मन बहुत उदास रहा, बीते वक़्त को याद करके.

मेहरां का बाप मिस्त्री मेहरदीन पेंशन का हक़दार नहीं हुआ था, मेरे बाप की तरह ही. मेरा पिता भी 1950 में घर आ बैठा था–'वक़्त बदल गए हैं.'

और हमारा परिवार देश के आम लोगों में शामिल हो गया था...जबकि दुनिया कहीं की कहीं पहुंच गई थी.

एक दिन फिर मेहरां का सुख-संदेश मिला–'मैं और मेरी अम्मी आपके परिवार को मिलने के लिए आना चाहती थीं, मगर घरों में एक शादी तय हो गई, मेरे चाचा की बेटी-मेरी बहन की, इसलिए फिलहाल, मुआफ़ी देना, विवाह निपटा लें...'

पत्र में लाल धागे की बनी हुई एक राखी थी...'आजकल रक्षाबन्धन के दिन हैं, और मैं अपने अब्बाजान के दस्तार-बदल भाई, मिस्त्री मीहांसिंह के लेखक बेटे और अपने बड़े भाईजान को राखी भेजने की ख़ुशी ले रही हूं.'

मेरी आंखें भीग गईं.

मेरी कोई सगी बहन नहीं थी, अगर होती तो वह भी इतना ही स्नेह करती.

मुझे लगा जैसे मुझे दो जहान की पातशाही मिल गई हो.

मैंने लाख बार शुक्राना किया–'सुखद सम्बन्धों की दुनिया कायम रहे.'

मेहरां ने कहा–'हमारे अब्बाजान लोगों के लिए पुल बनाते थे...'

मैंने कहा–'बहुत मज़्बूत पुल बनाते थे...'

मेहरां बोली–'मेरा बड़ा भाई लेखक है...'

मैंने कहा–'हां, मैं लेखक हूं...'

मेहरां ने गद्गद् भाव से कहा–'भाईजान! आप भी पुल बनाते हैं...'

मैंने मेहरां की बात समझ ली थी, मगर मैंने उसे ही बोलने दिया–'भाईजान! आप भी पुल बना रहे हैं, सांझ के पुल, सद्भावना के पुल!'

मैं मेहरां को केवल इतना ही कह पाया–'मेरी पाकिस्तानी बहन! मैं तेरे सिदक़ पर क़ुर्बान!' ❑

96, गोल्डन एवेन्यू-I, जालन्धर-144022

पत्थर पर फ़सल

डॉ. सतीश दुबे



रोज़ी में बरकत देने वाले इस शहर के बारे में अनेक सुने क़िस्सों से प्रभावित होकर चमन निमाड़ से आया था. कृषि आधारित परिवार का सदस्य होते हुए भी उसे अपने गांव से पलायन करना पड़ा. कारण, एक तो पैतृक ज़मीन का टुकड़ों में बंट जाना, दूसरा डीजल-पम्पों द्वारा जल-स्रोतों का पानी खींचकर केश-क्रॉप को महत्त्व देने वाले सम्पन्न किसानों के अनुरूप अपने को ढाल नहीं पाना.

यहाँ आने के बाद रहने के लिए जगह उसे भवन-निर्माण कार्य में चौकीदारी कर रहे गांव के ही एक परिचित ने दी. संयोग ऐसा बना कि मल्टी-निर्माण की चौकीदारी में अधिक वेतन पर मित्र दूसरी जगह चला गया तथा ठेकेदार ने चमन को उसके बदले अपने कार्य के लिए नौकरी दे दी.

निर्माण कार्यों से जुड़ी विरोधाभास स्थिति यह होती है कि जैसे-जैसे कार्य समापन के नज़दीक आने लगता है, बनवाने वाले के चेहरे पर ख़ुशी की आभा दमकने लगती है, जबकि बनाने वालों के चेहरे पर मायूसी. चौकीदार से सामान्य श्रमिक तक पूरा मेहनतकश टोला दाना-पानी का स्रोत समाप्त होने की संभावना में किसी नए कार्य को तलाशने की मानसिकता में डूबने लगता है.

यह निर्माण-कार्य भी जब टाइल्स लगाने की स्थिति तक आ पहुँचा तो चमन का दिल भी ज़मीन ठोस तथा समतल बनाने वाली वायब्रेटर-मशीन की तरह धड़-धड़ करने लगा. कुछ कर-गुज़रने की तमन्ना तथा गांव-परिवार के लोगों को वापस नहीं लौटने की दी गई चुनौती, इस धड़कन की गति को और तेज़ कर रही थी. पत्नी चंचला, भी चाहती ऐसा ही थी, किन्तु उसका पूरा ध्यान इस बिन्दु पर स्थिर था कि,

शेष

चमन अधिक विचलित नहीं हो. भगवान में विश्वास तथा सबूरी का उपदेश देकर वह कर्मक्षेत्र पर डटे रहने के लिए प्रोत्साहित तो कर रही थी, साथ ही उसने आसपास के घरों में बर्तन-झाड़ू-पोंछा का कार्य करने वाली महिलाओं के सम्पर्क से कुछ घरों का ऐसा ही काम खोजकर चमन को आर्थिक-सहयोग करना भी शुरू कर दिया था.

मौजूदा नौकरी छूटने के पहले तक चमन ने यह मन बना लिया था कि भविष्य में वह ऐसा काम ढूंढ़ेगा जो स्थायी तथा मालिक की चिरौरी कम से कम करने वाला हो. ऐसी ही उधेड़बुन के चलते, एक दिन अचानक उसे सूरज मिल गया. रिश्ते की बात बताई जाय, तो बुआ की बेटी का बेटा. गांव भी दूर, रिश्ता भी दूर पर बचपन से दोनों में प्रगाढ़-प्रेम. इस अनजाने शहर में दोनों एक दूसरे से मिले, तो ऐसा लगा मानो दिल को सुकून देने वाली कोई गुमशुदा चीज़ बहुत दिनों बाद मिली हो.

हालचाल, बीवी-बच्चे,. घर-गांव, अपने-पराये की लम्बी आत्मीय बातों का सिलसिला समाप्त होने के बाद चमन ने अपनी समस्या दर्द का एहसास कराते हुए बताई.

"भंगार याने अटाला बटोरने का काम करना हो तो अभी जब्बार सेठ से मिला देता हूँ. ठेला गाड़ी पर गली, कूचे, मोहल्ले में से घरों का अटाला ख़रीदना और जब्बार सेठ को बेचना, जितनी मेहनत, उतनी कमाई. नाम मज़दूर भी और व्यापारी भी. बेग़ैरत काम नहीं है, ऐसा काम करने वाले हर शहर में मिल जाएंगे...सोच लो..इच्छा हो तो अभी जब्बार सेठ से मिला देता हूँ." सूरज ने तुरंत समस्या का समाधान प्रस्तुत कर चमन के चेहरे पर निगाह स्थिर कर दी.

जब्बार सेठ से मिलाने की बात बार-बार दोहराने से चमन को यह तो समझ में आ ही गया कि सूरज का इस सेठ से मेलजोल अच्छा है. कुछ देर हथेली से चेहरा छिपाकर सोचते रहने के बाद उसने सूरज की ओर देखा तथा मुस्कराकर बोला—"तू कह रहा है तो काम अच्छा ही होगा!"

"तो बैठ पीछे कैरियर पर...तुरन्त दान महाकल्याण, अभी जब्बार सेठ से मिला देता हूँ."

भीड़ भरे माहौल की सड़कों पर घंटी बजाकर 'हट-बच' आवाज़ तथा साइकिल को आड़ी-तिरछी कर तेज़ रफ़्तार से चलाते हुए सूरज ने, अंततः 15 × 20 के चैनल-गेट वाले गोडाउन के सामने ले जाकर चमन को खड़ा कर दिया. प्रवेश द्वार के निकट सीमेंट-कांक्रीट से बनी चबूतरानुमा चौकोर आसंदी पर मसनद का सहारा लेकर बैठे व्यक्ति को देख, चमन समझ गया, ये ही जब्बार सेठ है.

अपने आसपास खड़े लोगों को अलग-अलग क़िस्म की हिदायतें देकर जब्बार सेठ ने पहले सूरज, फिर पंजों की अंगुलियों को गुत्थमगुत्था कर, कोहनियाँ, सीने से टिकाकर याचक-मुद्रा में खड़े चमन की ओर देखा तथा प्यार भरे गुस्से का इज़हार

करते हुए बोले–"ये जब्बार कोई ख़ुदा है जो उसके सामने ऐसे खड़े हो. बुलंद आदमी की तरह तनकर खड़े होओ..." चमन सकपकाकर सीधा खड़ा हो गया–"हाँ ये ठीक है. ध्यान रखो, घिघियाने से इंसान का आधा वुजूद ख़त्म हो जाता है. सूरज के साथ आए हो इसका मतलब ही हुआ किसी गांव से आए हो और हमारे धंधे से जुड़ना चाहते हो, है ना? अच्छी बात है देखो–बेटा गहराई से देखें तो हमारा धंधा आदमी के द्वारा बनाई गई चीज़ों को ज़्यादा से ज़्यादा इस्तेमाल करने में मदद करता है. जूनी चीज़ों के बिक्री-बाज़ार में जाकर तुम देखोगे तो पता लगेगा, कि एक घर की बेकार चीज़ दूसरे ग़रीब आदमी के या तो नए घर में लग रही है या वो उसे ख़ुशी के साथ अपने इस्तेमाल के लिए ख़रीद रहा है फिर चाहे वह बर्तन-भांडे-खिड़की दरवाज़े हों या कपड़े-लत्ते. इसी तरह की कुछ चीज़ें कारख़ानों तक पहुँचकर नई बनकर आ जाती हैं. क्या ख़रीदना, कैसे ख़रीदना, कहाँ बेचना-देना, यह सब धीरे-धीरे तुम्हारी समझ में आ जाएगा. जब से धंधा शुरू करना हो आ जाना. पाँच उसूलों को ज़िन्दगी में महत्त्व देने वाला यह जब्बार हमेशा तुम्हारी मदद करेगा."

सलाम बजाकर दोनों बाहर निकले.

"बात कुछ जमी? कैसा लगा धंधा और हमारे जब्बार सेठ? बोलते कुछ ज़्यादा ही है ना?" एक साथ कई प्रश्नों के जवाब चाह रहे नई रौशनी देने वाले सूरज की ओर चमन ने कृतज्ञता भरी निगाहें घुमाई–"धंधा तो ठीक है, और जब्बार सेठ के तो क्या कहने! साल भर में घरोपे की बात करने वाला मेरे को तो पेला आदमी मिला..."

अवैध झोंपड़पट्टी का रहवासी सूरज अब चमन के बहुत निकट था. नई ज़मीन पर पैर जमाने के लिए जिस जिद्दोजहद से चंचला-चमन गुज़र रहे थे, उसका भोक्ता होने के कारण यह उनके दर्द को गहरे से समझता था. गाँव की सरहद से दूर बने सम्बन्धों के नवीनीकरण पर निकटता की मुहर लगाने के लिए एक दिन चमन-चंचला सूरज के निवास पर आमंत्रित थे. नगर की एक बड़ी कॉलोनी के अंतिम हिस्से के ठीक सामने वृक्षों के झुरमुट और आसपास खुली ज़मीन के बीच स्थित डेढ़-दो सौ परिवारों की झोंपड़पट्टी-बस्ती देख चमन का मन हरहरा गया. उसे लगा, वह किसी महानगर में नहीं, अपने ही किसी देखे-भाले गांव में हो.

निमाडी विशेष-डिश जुंआर-रोटी और अम्बाड़ी-भाजी के मेहमानी-खाने से निवृत्त होने के बाद बच्चे एक दूजे के साथ खेल में तथा ये चारों बातचीत में मशग़ूल हो गए. परिवेश के प्रति विशेष अनुराग चमन की जुबान पर आते ही सूरज ने प्रश्न किया–"यां झोपड़ी बनाने का मन है क्या... ?"

"मन होने से क्या होता है, जगे मेरे बाप-दादों की थोड़े ही है..."

"ये जित्ते लोग देख रहे हो ना, इनमें से किसी के बाप-दादों की नहीं है. सरकारी ज़मीन है जैसे सब ने घर बांध लिये, तुम भी बांध लो..."

"ऐसा हो सकेगा..."

"हाँ क्यूं नहीं..."

दोनों की बातें सुनकर औरतें ख़ुशी से लगभग उछल पड़ीं. पर जब राखी ने तुरन्त बल्लू भैया से मिलवाकर काम सुलटा लेने की सिफ़ारिश की, तो सूरज के भाल पर असमंजस की रेखाएँ घिर आईं.

"परेशानी में डाल दिया ना भाभी ने, कौन है बल्लू भैया...!"

"अरे स्साला, दारुड़ा है, नेता बना फिरता है...हलकट नम्बर एक..."

दरअस्ल इस अवैध-निर्माण की संप्रभुता प्राप्त राजनैतिक-दल का बल्लू एजेन्ट था. उसे झोंपड़-पट्टी क्षेत्र का प्रभाव-बल पर मालिकाना हक़ दिया जाकर यह ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी कि वह दल के हर जैकारा-नाकारा कार्य में बस्ती के रहवासियों का उपयोग करने में मदद करें. इस वरदान का वर्चस्व बनाये रखने के लिए उसने जो आचरण-संहिता तैयार की थी उसके अनुसार, बस्ती के हर बाशिन्दे के लिए यह ज़रूरी है कि वह निर्धारित किराया प्रत्येक माह निश्चित तारीख़ को भुगतान करे, समय-असमय चाही गई रक़म दे तथा जुबान के आदेश और आँखों के संकेतों पर चले. और यह सब नागवार लगने के कारण 'बल्लू भैया' नाम कानों में सुनाई देते ही सूरज बौखला उठता है.

आज भी व्यक्त उसकी ऐसी ही मन:स्थिति को समझ चमन ने कहा–"ऐसे लोगों से मैं भी उलझना पसंद नहीं करता. फिर ये परदेस का मामला है, यहाँ हम रोजी के लिए आए हैं, झगड़े-टंटों के लिए नहीं. अभी महीने-दो-महीने को तो ठेकेदार के प्लॉट में झोंपड़ी है, फिर आगे देखेंगे..."

चेहरे के भाव बदलकर मुस्कान बिखेरते हुए सूरज ने चमन की ओर देखा तथा बोला–"अरे तू भी क्या डर गया! मैंने तो इसलिए ऐसा कहा कि नेताओं के मुँह लगे होने के कारण, वह हलकट है, समझेगा, तू मेरा आदमी है, और मैंने तेरे से माल-वाल मार लिया होगा. तू ख़ुद ही जाकर ख़ुशामद कर ना, मान जाएगा. उसके बाप का कुछ थोड़े ही जाता है. पराये धन से परमानंद प्राप्त कर रहा है वह तो..."

झोंपड़पट्टी के प्रथम छोर पर ईंट से बने एक मकान के बाहर खड़ी हीरो होंडा बाइक पर बैठे उसी के जैसे रंग वाले बल्लू भैया से मुलाक़ात का अवसर एक दिन चमन को मिल गया. जब्बार सेठ की अपेक्षा व्यवहार और बातचीत के लहजे में एकदम विपरीत बल्लू भैया को अपनी परिस्थितियाँ आरती-शब्दावली में बयान कर चमन ने ख़ुश कर लिया. ज़मीन पेटे हज़ार रुपया नक़द तथा दो सौ पचास रुपया भाड़े पर झोंपड़ी बनाने की इजाज़त उसे मिल गई. सूरज के अलावा कुछ और लोगों से

दरयाफ़्त करने के बाद चमन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि स्थायी रूप से रहना है, तो इस जगे झोंपड़ी बाँध लेना महंगा सौदा नहीं है. छोटे-मोटे झगड़े-टंटे, बोलचाल का मुक़ाबला तो शहर में किराये से रहने वाले हर आदमी को करना होता है.

चमन ने अपनी योजनाओं को इस तरीक़े से अंजाम दिया कि भवन-निर्माण कार्य की चौकीदारी से जैसे ही मुक्ति मिली, उसने नई ज़िन्दगी शुरू कर दी. अपनी ज़रूरत के मुताबिक़ ज़मीन पर उसने आकर्षक कॉटेज बनाकर नया धंधा शुरू कर दिया. शुरू में किराये का ठेला लेकर गली-कूचों से घर का अनुपयोगी जिसे 'अटाला सामान' कहा जाता है, इकट्ठा कर जब्बार सेठ के गोडाउन तक पहुँचाना उसे म्लेच्छवाड़ा लगा. धीरे-धीरे उसने अनुभव किया कि कोई दूसरा धंधा या नौकरी-चाकरी की अपेक्षा आर्थिक-दृष्टि से यह अधिक फ़ायदेमंद है. पचास से तीन-सौ रुपए प्रतिदिन की कमाई मेहनत, वाकपटुता तथा चतुराई के बलबूते पर आसानी से की जा सकती है. चमन को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि, जब्बार सेठ जैसे शहर में कई अटाला-व्यापारी रोज़ लाखों का धंधा करते हैं

झोंपड़ी की इस बस्ती के रहवासियों में चमन के हम-व्यवसायी चार छः होंगे, शेष या तो मैकेनिक, ड्राइवर या मज़दूर-बाज़ार में वस्तु की तरह खड़े होकर श्रम बेचने वाले श्रमिक. ईमानदारी की रोज़ी करने वाले इन लोगों के अलावा अधिकांश वे जिन्हें समाज चोर, उचक्के, स्मगलर, औरतख़ोर, जुआरी या अपराधी-ठेकेदार कहता है. कारनामा भले ही एक करें पर पुलिस का छापा पड़ने पर परेड में सबका सम्मिलित होना ज़रूरी. आये दिन बस्ती में चिल-पौं, चीख़-पुकार. उधर धंधे में निरन्तर बरकत, इधन मन को कचोटने वाला यह एकदम नया माहौल. कई दिनों तक तो चमन-चंचला उद्विग्न रहे, पर धीरे-धीरे अभ्यस्त हो गए.

चमन की खेतिहर पारिवारिक-पृष्ठभूमि दूसरों की अपेक्षा एकदम अलग थी, इसलिए उसने कुछ ही महीनों में अपनी झोंपड़ी को दो भागों में विभक्त कर व्यवस्थित घर का आकार दे दिया. चमेली ने एक-दो घरों से लोहे के पुराने पलंग आधे-पौने दामों में कबाड़ लिए तथा चमन ने अपने व्यावसायिक-क्षेत्र से फ़र्शी-पत्थर, केन की फ़ोल्डिंग कुर्सियाँ, टू-इन-वन, पोर्टेबल टी.वी. तथा सूरज और जब्बार सेठ के सहयोग से गैस-ईंधन. यही नहीं दोनों बच्चों को दूसरों के साथ धूल में खेलने या इधर-उधर भटकने से बचाने के लिए एक स्कूल में प्रवेश भी दिलवा दिया. अपनी ज़िन्दगी के अनुरूप व्यवस्थित रहना, पहनना-खाना और रात में कुछ देर मंजीरों की धुन पर सिंगाजी के भजन गाना, जैसी जीवन-शैली आसपास या आमने-सामने के रहवासियों के लिए अजूबा तो थी ही, साथ ही ईर्ष्यामूलक भी.

"रहते झोंपड़-पट्टी में हैं और इतराते कितने ज़्यादा" जैसी खुसुर-पुसुर के साथ, धीरे-धीरे चमन परिवार की सम्पन्नता के विरुद्ध माहौल गर्माने लगा. चर्चा में ये बिन्दु

भी सम्मिलित होने लगे कि अटाला-धंधा की आड़ में चमन अवैध-धंधे करता है, जैसे कच्ची दारू बनाना, स्मैक या ऐसे ही कुछ अन्य. यही नहीं चंचला के साफ़-सूफ़ रहन-सहन को देख कुछ मनचले जहाँ फ़िक़रे कसने लगे, वहीं दूसरी ओर सीमित आय में व्यवस्थित जीवन को आर्थिक-सम्पन्नता का प्रतीक मानकर, बल्लूभाई के गुर्गों ने तलब लगने पर जब-तब नामा-उगाई करना भी शुरू कर दिया. दरअस्ल रात में चमन की झोंपड़ी में जैसे भजन की महफ़िल जमती वैसे ही आसपास की झोंपड़ियों में दारू की. चिल-पौं, शोर-शराबा के साथ आए दिन औरतें के साथ मारपीट के कारण, रोने-चीख़ने या हाय-हाय करने की आवाज़ें. पीने का शौक़ पुरुषों को ही नहीं जवान-बूढ़ी औरतों को भी.

चमन सब चुपचाप सहन करता रहा, किन्तु उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि रोज़-रोज़ अपनी गाढ़ी कमाई का हिस्सा मुर्दार बनकर दूसरों को भेंट करे. इसलिए अति की पराकाष्ठा होने पर उसने विरोध करना शुरू कर दिया. नतीजन गुंडागर्दी को जीविका का माध्यम मानने वालों से आए दिन तू-तू, मैं-मैं, हाथापाई या बलअजमाई होने लगी. एक दिन तो बल्लू का दायां-पट्ठा मदन जब उसकी अनुपस्थिति में दारू-दाम नहीं देने पर चंचला के साथ पकड़ा-धकड़ी मारपीट कर गया तो उसका ख़ून खौल उठा. गर्मी का मौसम होने के बावजूद, अगला दिन ठीक से तपा भी नहीं था कि, रात भर गर्माया चमन ठेले की सफ़ाई-धुलाई और दोपहर का कलेवा बांधकर ले जाने के बजाय मुँह में ठूंसकर घर से निकलने के लिए तैयार हो गया. चंचला ने उसके हावभाव को शंकित नज़रों से देखा तथा बोली–"किसी से कोई बोलचाल मत करना, मेरी सौगंध है..." चमन ने उसकी ओर प्यार भरी निगाह से देखकर हमेशा की तरह खिलखिलाकर जवाब दिया–"सौगंध सिंगाजी के नाम पर कहता हूं–तेरी बात सिर माथे. पर सुबह घर से निकले आदमी और घोंसले से निकले पंछी के सामने पूरे दिन का कांच नहीं होता...जो भगवान कराए सही..."

ठेलागाड़ी आगे की ओर ठेलते हुए चमन सोचने लगा, क्यों नहीं उसने मदन की हरकतें सुनने के बाद रात में ही उससे निपट लेने के लिए विचार बनाया. फिर सोचा, अच्छा हुआ ऐसा नहीं किया. परदेस का माहौल, गुंडाराज, अंधेरी रात, निशाचर कैसा पलटवार कर दें, पता नहीं. अब क्या किया जाय–हरकत तो फ़ौजदारी-केस जैसी है, क्यों नहीं पुलिस में रपट लिखाई जाय? ऐसा करने से बल्लू भैया बिगड़ गया तो? मदन उसी का तो गुर्गा है. अच्छा तो यही होगा कि, बल्लू भैया को ही पूरी घटना बताई जाय, देखते हैं क्या बोलता है.

अपना पक्का इरादा ठेलागाड़ी ज़ोरों से ठेलने के रूप में व्यक्त करने पर उसने महसूस किया, गाड़ी आगे बढ़ नहीं रही है. अवरोध का कारण जानने के लिए जैसे ही सिर ऊँचा किया, देखा गाड़ी रोककर सामने मदन खड़ा है. अंदर उबल रहे बदले के

ख़ून में मदन ने गाली-गलोच, आरोप-प्रत्यारोप लगाकर और उबाल ला दिया. और जैसे ही गाना-बजाना कर औरत से धंधा करवाने जैसे शब्द उसकी ज़ुबान से निकले, चमन ने फ़िल्म के हीरो की तरह उस पर वार करना शुरू कर दिया. देखते ही देखते आसपास की पट्टी में हलचल मच गई. जमा भीड़ चश्मदीद बनी रही, पर किसी ने जलती आग में कूदकर, अपने को सिद्ध साबित करने की कोशिश नहीं की. इतना ज़रूर हुआ कि भावी रणनीति जानने के लिए दो-चार पुराने बाशिन्दों ने उन्हें बल्लू भैया के सामने ले जाने का साहस जुटा लिया.

आहट सुनकर मोबाइल पर बात कर कर रहे, बल्लू भैया उसी अंदाज़ में बाहर निकले तथा दो-चार प्रमुख लोगों को अन्दर आने का अंगुली से इशारा कर, वापस पलट गए.

मोबाइल बन्द होते ही चश्मदीद बीचवानों ने क्रमशः प्रथम दृष्टया-रिपोर्ट बल्लू भैया के सामने पेश की. बल्लू भैया, मदन को तो ठीक से जानते ही थे, इसलिए उन्होंने पहले चमन को बेख़ौफ़ पूरा वृत्तांत कहने के लिए प्रोत्साहित किया.

घटना-क्रम का तीन-चौथाई प्रसंग समाप्त हो भी नहीं पाया कि बल्लू भैया ने चमन को ओंठ बन्द करने का संकेत किया तथा दीदे चौड़े कर सबकी ओर ऐसे देखा कि, ख़ून जम जाय. फिर, सामने रखी कुर्सी पर पैर फैलाकर सिगरेट जला ली तथा विचारात्मा जाग्रत होते ही चमन की ओर देखा–'रिपोट तो पुलिस-थाने जाना थी, पर अच्छा हुआ तुम यहां आ गए. टी.आई. भड़वा, बदमाश है. नम्बर एक का दारुकुट्टा और औरतबाज़. पैसे तो तुमसे मारता ही औरत को थाने बुलाकर, रातभर के लिए बंद कर देता और फिर क्या करता, तुम समझ लो..." इसके बा'द बल्लू भैया ने और क्या कहा, चमन को नहीं मालूम, उसे लगा, आंखों के सामने धुंध छाती जा रही है. अचानक एक कर्कश आवाज़ उसके कानों से टकराई–"सुना मैं इस मदन-मेंढ़क को क्या बोला... ?" चमन ने चेहरे पर हथेली घुमाकर निराश आँखों से बल्लू भैया की ओर देखा और दबी ज़ुबान से बोला–"माफी चाहता हूँ भैया, मैं सुन नहीं पाया..."

"मेरी बात सुनकर गश आ गया था क्या?"

"नहीं भैया ऐसी बात नहीं, एकदम माथा भन्ना गया था..."

"जो बात तुमने सुनी, वह तुम्हारे लिए थी ही ऐसी. सुनो मैंने इस मदन मेंढ़क में से कहा कि..." और वे अपना वाक्य पूरा करने की बजाय अपनी ओर चुपचाप देख रहे चमन का आशय समझकर कुर्सी से खड़े हुए चमन के कंधों को झकझोरा तथा मदन को अपनी ओर खींचकर उसके गालों पर चटाचट थप्पड़ रसीद देते हुए बोले–"मैंने इस मेंढ़क से ये कहा कि–जो औरत पराये मरद के सामने बैठना, उससे हंसी-ठठ्ठा करना तो दूर, चेहरे की तरफ़ देखना भी अच्छा नहीं मानती हो, उसे 'धंधेवाली' कहना अपनी माँ पर लांछन लगाना है. बल्लू सब सहन कर सकता है, पर अपनी

शेष

झोंपड़पट्टी की सही औरत को गलत कहने वाले को नहीं बख्शता, फिर भले ही वह उसका बाप हो...मदन मेंढक ने यह सब जानते हुए भी हरकत की है, इसलिए चमन इसकी सज़ा यही है कि तेरी औरत मेरे सामने पहले पाँच चप्पलें इसको मारे और फिर यह उससे माफ़ी मांगे...क्या समझा?" बल्लू भैया ने मदन का गला छोड़कर चमन की ओर देखा.

चमन को तो कल्पना भी नहीं थी कि, ऐसा घटित हो सकता है. यहाँ लाए जाने पर उसने यही सोचा था कि निश्चित बल्लू भैया अपने आदमी पर हाथ उठाने की बात सुनते ही मार-मार कर मिट्टी पलीद कर देंगे, पर उनका फ़ैसला सुनकर, तो वह हक्काबक्का रह गया. बोलने के लिए ज़ुबान खोली तो लगा तलुआ सूख गया है.

"सुना तुमने मैंने क्या बोला... ?" बल्लू भैया की कर्कश और गम्भीर आवाज़ ने चमन को चौंका कर हिला दिया. उसने कृतज्ञता भरी नज़रों से उनकी ओर देखा तथा अस्फुट शब्दों में बोला–"भैया मैं गाँव से रोजी-रोटी के लिए आया, घर-परिवार वाला ग़रीब आदमी हूँ. इन सब लफड़ों से मेरा कलेजा कांपता है. जो हुआ उसके लिए आपसे माफ़ी मांगता हूं."

बल्लू भैया कुछ बोले नहीं. शायद वे मामले को अधिक बढ़ाना नहीं चाहते थे. उन्होंने प्यार भरी निगाहों से पहले चमन की ओर देखा, फिर आक्रामक-मुद्रा में मदन की ओर तथा सबको लौटने का इशारा कर अंदर चले गए.

अनाहूत रूप से उठ खड़े हुए घटनाक्रम के अचानक पटाक्षेप में नैतिक-विजय चमन की हुई थी और तय था वह अपनी ज़िन्दगी की यात्रा को पूरी शक्ति से गति दे. उसने ऐसा विचार बनाया भी, पर यह तय करके कि वह अब इस झोंपड़पट्टी में नहीं रहेगा. सूरज की डांट-फटकार, कायर या भगौड़ा जैसे शब्दों को सम्मिलित कर दी गई हर प्रकार की समझाइश का उसका जवाब था–"यह भागना नहीं हमसे ज़्यादा ताक़तवर कुदरत के इशारे को समझना और समय को सलाम करना है. और फिर सूरज हम तो पत्थर पर फ़सल पैदा करने और पाताल से पानी खींचने वाले हैं, जहाँ भी जायेंगे वहाँ अन्न-पानी बटोर लेंगे..."

सूरज पहली बार उसकी ज़ुबान से अटपटे शब्द सुन रहा था. उसकी समझ में ज़्यादा तो कुछ नहीं, केवल इतना आया कि वह जो भी कह रहा है, सही है. ❑

766, सुदामा नगर, इन्दौर 452 009

कहानी का पोस्टमार्टम

सीमा स्वधा



हिन्दी साहित्य पढ़ते हुए मैंने कई कहानियां पढ़ी हैं. बक़ायदा देशकाल, संवाद, शीर्षक और उद्देश्य. इतनी जानकारी के बावजूद मैं परेशान हूँ. पिछले कई दिनों से मन में कुछ उमड़-घुमड़ रहा था और कई बार कोशिश भी की, इसे व्यवस्थित कर एक ऐसी कहानी रच डालूं जिसका कोई तोड़ न हो. मगर हर बात कुछ बेतरतीब-सी लगती रही अपनी व्यवस्था, कौन जाने एक कहानीकार की अनिवार्य क्षमताओं से मैं रहित होऊं. शायद उम्र भर बेतरतीब को व्यवस्था देने को ही ज़िन्दगी समझ बैठते हैं हम. बहरहाल पाठकगण आप इन्हें व्यवस्थित कीजिये और कहानी का लुत्फ़ लीजिये. मेरा दावा है आज की तारीख़ में ये कहानी (गर तैयार हो सके) अपनी उपस्थिति ज़रूर दर्ज करायेगी, बशर्ते कि आप इसे ध्यान से पढ़ सकें.

कथानक :

इस कहानी का कथानक बड़ा ही सरल है. बेलापुर गांव में मास्टरजी रहते थे. जिनके दो बेटे थे, चन्द्रभूषण और कुलभूषण, एक बेटी नयनतारा. उनकी पत्नी, कुलभूषण पांच साल का था, जब दिवंगत हुई. मास्टरजी के पिताजी गांव के ज़मींदार के यहाँ बड़े मुलाज़िम हुआ करते थे. फलत: उनके परिवार का पहले कुछ रौब-दाब हुआ करता था. जबसे ज़मींदारी ख़त्म हुई, मास्टरजी का परिवार भी तंगी के दौर में पहुँच गया. मास्टर पद्मभूषण उस ज़माने में हायर सेकेन्ड्री पास थे. कुल मिलाकर गांव में अकेले इतने बड़े विद्वान थे और रुतबा इतना जैसे सिर्फ़ नाम ही नहीं, वाक़ई 'पद्मभूषण' की उपाधि भी मिली हो. मगर इस रुतबे से ना तो किसी का पेट भरता

है और ना ही उपाधि से ज़िन्दगी की गाड़ी चलती है. वैसे मास्टरजी के पास थोड़ी बहुत खेती भी थी. पर खेती करना मास्टरजी के वश का काम नहीं था और ना ही साधन ही. अपने घर के दालान में ही पढ़ने के इच्छुक कुछ लड़कों को पढ़ाने लगे. यही वो दौर था, जब मास्टरजी के नाम से प्रसिद्ध होने लगे. अपने पुत्रों को पढ़ाने के लिये भी मास्टरजी सचेष्ट रहते, पर देवी सरस्वती की अनुकम्पा उन पर थी ही नहीं. चन्द्रभूषण तो जैसे-तैसे अपना सबक़ याद कर लेते. मगर कुलभूषण को काले पिल्ले के पूंछ के बाल गिनने में ज़्यादा मज़ा आता बनिस्पत गिनती, पहाड़े याद करने के. आम की कैरी, मटर की फलियाँ चुरा कर तोड़ने में उसकी एकाग्रता देखते बनती, बनिस्पत सबक़ याद करने के. मास्टरजी बच्चों को पढ़ाकर रोज़ी कमाते और बेटी नयनतारा घर की ज़िम्मेदारी संभालती. वक्त सरकता गया और बच्चे बड़े हो गये.

मास्टरजी को नयनतारा की ज़िम्मेदारी समझ में आयी. जो थोड़ा बहुत खेत जोतदार को दिया था, उसे बेचकर बेटी की शादी पास के गांव में ही कर दी. नयनतारा के जाने से घर की व्यवस्था चरमरा गई. चन्द्रभूषण थोड़ा बहुत सीधा माना जाता था. पढ़ाई के नाम पर किताबों में आँखें दिया रहता था, मन भले ही चंचल ख़रगोश की तरह तालाब वाले बग़ीचे में भटकता रहता. कुलभूषण तो घोषित नालायक़ था. फलतः वह आराम से मटरगश्ती करता और रात गये घर लौटता. चूल्हा फूँकते मास्टरजी बड़े दयनीय दिखते. मगर पेट की पुकार कोई कब तक अनसुना कर सकता है! कभी इस हाथ पर तो कभी उस हाथ पर दाग़ अंकित करते, किसी ढीठ बच्चे की तरह भोजन बनाकर ही दम लेते. पिता थे, भला अकेले खा सकते थे कभी! दोनों बेटों के लिए रखकर क्षुधा शांत करते. उनके मित्र पंडित दीनानाथ से उनकी दशा नहीं देखी जाती थी. अतः एक दिन संजीदा होकर पंडित पद्मभूषण के मन में ये बात बैठाने में सफल हो गये कि उन्हें चन्द्रभूषण की शादी कर देनी चाहिए. घर में बहू के आने से वे इन ज़िम्मेदारियों से तो मुक्त हो सकेंगे. उन्होंने लगे हाथ एक रिश्ता भी सुझा दिया. उनकी साली की बेटी थी—चंदा, जिसका रंग कुछ ज़्यादा ही गहरा था. जैसे किसी ने परिहासवश उसका नाम चंदा रखा हो.

उसके परिवार वाले बड़े परेशान थे, उसकी शादी के लिये. पंडित दीनानाथ के हाथों दो उपकार एक साथ सम्पन्न हुए. एक तो उन्होंने अपनी साली साहिबा की चिन्ताओं से उद्धार किया और उनका मूल्य उस परिवार में कुछ ज़्यादा ही बढ़ गया. दूसरा उपकार (कहने की ज़रूरत नहीं) अपने मित्र पंडित पद्मभूषण पर किया जिन्हें रोज़-रोज़ चूल्हा फूंकने के झंझट से निजात दिला दीया. इसी बीच भूषण थर्ड डिवीज़न से मैट्रिक कर चुका था और पंडितजी के थक जाने पर बच्चों को आराम से अ से अनार और क से कबूतर पढ़ा देता था. पंडितजी साठ पार कर चुके थे. निश्चित तौर पर उनका शरीर बूढ़ा हो गया था. ज़्यादा बोलना-चलना अब संभव नहीं था, पर अब

भी वो अक्सर अपने शिष्यों को ज्ञान दान देते नज़र आते. छोटा कुलभूषण थी मैट्रिक कर चुका था. इस बीच एक तेज़ तर्रार नेता टाइप दोस्त से उसकी घनिष्ठता हो गई थी. लगे हाथों उसने इंटर में भी एडमिशन ले लिया. उस नेता टाइप दोस्त की दोस्ती इस आड़े वक़्त में कुलभूषण के बहुत काम आई. कदाचार की बहती गंगा में उसने भी अपना हाथ डिटरजेंट मलकर धोया. जब रिज़ल्ट आया, तो पंडित पद्मभूषणजी भौंचक्के रह गये. उसने प्रथम श्रेणी पायी थी. अपने उसी दोस्त की इनायत से उसे एक प्राइमरी स्कूल में हिन्दी के अध्यापक की नौकरी मिल गई.

समय का चक्र चलता रहा. इस बीच जब-जब जो-जो होना है, तब-तब सो-सो होता है की तर्ज़ पर मास्टरजी के परिवार में दो ख़ास घटनायें हुईं. पहली, उनकी बेटी नयनतारा विधवा होकर फिर मास्टरजी के घर आ गई. दूसरी, चंदा की गोद में एक चाँद आ गया. एक तो पहले तंगहाली थी, उस पर नये ख़र्चों से घर का ढाँचा ही चरमचाने लगा. अभावों से चंदा का मन ही नहीं, चेहरे का भूगोल भी प्रभावित हुआ. अब वो हर वक़्त चिड़चिड़ी-सी रहती. छोटी-मोटी ग़लतियों पर भी बड़बड़ाने लगती. चन्द्रभूषण तो सीधा-सादा इंसान था. सुनकर भी अनसुना कर देता. आख़िर चंदा की बड़बड़ाहट अकारण नहीं थी, पर कुलभूषण आये दिन उलझ पड़ता. कुछ बच्चों के पढ़ाने भर से इतने बड़े परिवार का ख़र्च चलता भी कैसे! मास्टरजी सब कुछ सुनकर भी चुप ही रहते, एक तो बेटी नयनतारा की विपत्ति और दूसरे परिवार की स्थिति. एक चूके हुए योद्धा की भांति सब कुछ स्वीकार करने की विवश थे.

ज़िन्दगी के चित्रपट पर वक़्त का बेरहम हथौड़ा चलता है, तो आड़े-तिरछे को भी एक मुफ़ीद शक़्ल में ढाल देता है. यही वो कारण रहा था, जब कुलभूषण के उस दोस्त ने दो लड़कियों को पढ़ाने की बात की, तो वो तुरन्त तैयार हो गया. अगले वर्ष सुश्री कमला और सुश्री रंजना को मैट्रिक की परीक्षा देनी थी. दोनों एक ही ख़ानदान की थीं, चचेरी बहनें. सुश्री कमला के पापा बैंक में चपरासी थे और सुश्री रंजना के पिता म्युनिसिपैलिटी में कर्मचारी. अंग्रेज़ी विषय देखकर सुश्री कमला को कंप-कंपी आती थी. स्कूल तक तो ख़ैर लाल निशान से भी काम चल सकता था, लेकिन मैट्रिक में ऐसा होने पर पास करना संभव नहीं था. यही हाल कमोबेश सुश्री रंजना का था. हाँ, कभी-कभी लाल निशान के बॉर्डर को वो क्रॉस भी कर लेती थी. इन्हीं को ट्यूशन पढ़ाने का प्रस्ताव था जिसे कुलभूषण ने सहर्ष मान लिया. पचास-पचास यानी सौ रुपये की अतिरिक्त आमदनी कुछ कम न थी. रही बात पढ़ने-पढ़ाने की, तो उससे भी निबट लूँगा—सोचा कुलभूषण ने. ख़ुद उसे कभी अंग्रेज़ी विषय देख कर बुख़ार चढ़ता था. उन दिनों की याद आज भी उसके ज़ेहन में ताज़ा थी. मगर आज उसके पास इंटर की डिग्री थी प्रथम श्रेणी में. कुछ मूल्य तो था ही. पहली नवम्बर से पढ़ाना तय हुआ.

सुश्री कमला और सुश्री रंजना के घरों के बीच महज़ एक दीवार का फ़ासला था. अतः कुलभूषण ने एक ही समय दोनों को पढ़ाने की सोची. छत से सटे बरामदे में एक मेज़, तीन कुर्सियों की व्यवस्था की गई और मास्टर पुत्र कुलभूषण बाक़ायदा शिक्षा दान करने लगे. उनके आते ही सुश्री कमला की माताजी चाय मठरी के साथ हाज़िर हो जाती. जाते-जाते सुश्री रंजना की माताजी चाय-नमकीन लाती.

सुश्री रंजना की बुद्धि कुशाग्र थी, अतः मास्टर कुलभूषण के अपार ज्ञान भंडार का कुछ अंश उन्हें मिल भी जाता, मगर सुश्री कमला को बड़ी कोफ़्त होती. मन ही मन सोचती कि यदि इन्हीं बातों को अपनी मातृभाषा में पढ़-समझ लिया जाये, तो क्या बिगड़ जायेगा. पता नहीं, लोग क्यों इस विदेशी भाषा के पीछे हाथ धोकर पड़े हुए हैं. वे सर हिलाती रहती, लेकिन पल्ले कुछ नहीं पड़ता. सुश्री रंजना चूंकि पढ़ने की थोड़ी इच्छुक भी थी, अतः उनका स्तर अपने प्रयास से ही सही, सुधरने लगा. हालांकि पढ़ाई से ज़्यादा उन्हें कुल्लूसर (उनका प्यार से दिया नाम) को प्रभावित करना ज़्यादा पसंद आता. वैसे भी दोनों कुंवारी कन्याएं उम्र के जिस पड़ाव पर थीं, वहां हर युवक नायक ही लगता है तिस पर कुल्लूसर भी रंजना को पढ़ाने में ज़्यादा दिलचस्पी दिखाते, जिसके परिणामस्वरूप सुश्री कमला मन ही मन कुढ़ती रहती. आख़िर उनके पप्पा भी पचास रुपया ही देते थे. अन्य विषयों में भी उनकी अन्यमनस्कता बढ़ गई. अब उनकी प्राथमिकता कुल्लूसर की नज़रों में अपनी श्रेष्ठता साबित करनी थी. वैसे भी वे सुश्री रंजना से चार महीने, दो दिन, एक घंटा बड़ी थी. पढ़ाई में तो संभव न था, पर चाहे जैसे भी हो, उन्हें सुश्री रंजना से श्रेष्ठ बनना ही था. एक दिन उन्होंने पप्पा से इस बात की शिकायत कर दी कि कुलभूषण सर रंजना को ही सारा समय देते हैं, उन्हें तो पढ़ाते ही नहीं. अतः उनकी माताजी ने सुझाव दिया कि दोनों को अलग-अलग पढ़ाया जाये. कुलभूषण सर ने सुना, तो उन्हें बड़ी कोफ़्त हुई. कहां तो एक ही घंटा में सौ रुपये की आमद थी. शाम के समय मज़े में चन्द्र प्रताप (उनका वही नेता टाइप दोस्त) के संग फुलवारी वाले तालाब के किनारे गुज़रता. कुलभूषण अक्सर उस घटना का ज़िक्र करता जब पड़ोस की भाभी को अपने प्रेमजाल में फंसाया था और चन्द्रप्रताप अपनी भूतपूर्व प्रेमिका, जो अब विवाहिता थी, के क़िस्से सुनाते-सुनाते खो जाते.

कुछ देर सोचकर उन्होंने हामी भर दी और दोनों को चालीस मिनट के हिसाब से समय देने का निश्चय किया. चूंकि सुश्री कमला का घर पहले था और वैसे भी वे सुश्री रंजना से चार महीने, दो दिन, एक घंटा बड़ी थी, अतः उसे ही पढ़ाना तै किया. उसके बाद सुश्री रंजना को पढ़ाते. धीरे-धीरे सुश्री कमला के चेहरे की चमक लौट आई. आख़िर अब कुल्लूसर पूरे चालीस मिनट उनको अकेले समय देते थे.

इधर सुश्री रंजना के मन में ये बात बैठ गई थी कि कुल्लूसर उन्हें चाहते हैं,

तभी तो कितना ध्यान से उन्हें पढ़ाते हैं. जब सुश्री कमला के चेहरे की चमक बढ़ी, तो सुश्री रंजना का चेहरा फीका पड़ने लगा. मन में ऊलजुलूल विचार घर करने लगे. अतः जो भी थोड़ी बहुत पढ़ाई हो रही थी, उससे भी मन उचट गया.

किसी रुमानी उपन्यास में पढ़े गये एक महान आत्मा का कथन बार-बार उसके मस्तिष्क के रिकॉर्ड में सुई की तरह अटक गया. 'प्रेम के बिना सब बेकार है और प्रेम में पराजय सबसे बड़ी पीड़ा', इधर सुश्री कमला अक्सर उन्हें सुनाकर कहती, "अम्मा, देखो ना, आज़ सर ने कितना बढ़िया से पाठ समझाया है कि मुझे तुरन्त याद हो गया." भले ही उस चैप्टर को वो एक कहानी की तरह पढ़ गई हो. कुल्लूसर को लेकर दोनों बहनें कब एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी बन गईं, उन्हें पता ही नहीं चला. पहले तो कुलभूषण को थोड़ा ज़्यादा समय देते अखरता, पर रोज़ नये प्रकार के नाश्ते ने उस दुख को भी भुला दिया. अब सुश्री कमला सर के आने से पहले ही बड़े मनोयोग से नाश्ता बनाती. चाय का पानी चढ़ा कर अम्मा को मुस्तैद करती कि आते ही पहले कुल्लूसर को नाश्ता-चाय देना. बाद में पूछना नहीं भूलती, "सर पकौड़े कैसे बने थे?" कुल्लूसर बड़ी अदा से मुस्करा कर कहते "फ़ैन्टेस्टिक." पहले तो इस शब्द का अर्थ नहीं समझने के कारण सुश्री कमला अचकचा गई, पर हँसती रही. बाद में डिक्शनरी पलट कर अर्थ देखा, तो दंग रह गई. अब उसका ध्यान पढ़ाई से ज़्यादा नये तरीक़े के नाश्ता बनाने में रमता था.

इधर सुश्री रंजना में पढ़ाई की जो क्षीण संभावना शेष थी, उसे इश्क़ का दीमक चट कर रहा था. उसके मन में ये बात बैठ चुकी थी कि कुल्लूसर उन्हें बहुत चाहते हैं. पर अब कमला के चक्कर में उलझकर मुझसे दूरी बना रहे हैं. अगर उन्हें मुझसे प्यार नहीं होता, तो मौक़ा पाते ही मेरा हाथ क्यों दबा देते थे या मेरी आँखों में इतने प्यार से देख कर क्यों कहा था कि तुम बहुत अच्छी हो—पढ़ाई में भी और...उनका वो अधूरा वाक्य क्या था, क्या मैं इतना भी नहीं समझती! वैसे भी सुश्री रंजना उम्र के उस पड़ाव पर थी , जब कोई भी लड़की अपने को सबसे अलग ही समझती है. वनपीस तो भला रंजना क्यों न समझती. कई रातें और कई दिन इन्हीं ख़यालों में उलझने के बाद उसने तै किया कि क्यों न कुल्लूसर की परीक्षा ले लूं. फिर तो फ़ैसला आर या पार का ही होगा, परीक्षा में अभी पन्द्रह दिन बाक़ी थे. पढ़ाई चल रही थी, पर किताब के पन्नों पर उन्हें कुल्लूसर और कमला का प्रेमालाप ही दिखाई पड़ता, वैसे ही शक़-शुबहा का इलाज कहीं है भला!

कहते हैं, प्यार अंधा होता है. पर सुश्री रंजना के लिये ऐसा क़तई न था. बहुत सोच-विचार कर उसने निर्णय लिया. कोई छोटी-मोटी ज़िद कर के देख लूं. यदि कुल्लूसर प्यार करते होंगे मुझसे, तो मान रख ही लेंगे. परखने में भला क्या बुराई है? बड़ी दूर तक तर्क बुद्धि दौड़ाने के बाद उसने सोचा, क्यों न पहले ख़ुद पढ़ने की बात

ही रखूँ. यदि उनके मन में मेरे लिये ज़रा भी स्नेह होगा, तो मेरा अनुरोध ज़रूर मान लेंगे. अपने इस निर्णय पर वो आश्वस्त हुई. उस रात वाक़ई उसे अच्छी नींद आई. दूसरे दिन कुल्लूसर पढ़ाने आये, तो बड़ी अदा से उसने कहा, "सर कल से आप मुझे पहले पढ़ायेंगे. बाद में कमला को." काफ़ी तर्क-वितर्क के बाद भी जब कोई सार्थक कारण नहीं ढूँढ़ पाये कुलभूषण इस परिवर्तन का, तो उन्होंने इत्तिला दी कि कल तो मैं शहर जा रहा हूं, कुछ ज़रूरी सामान लाना है. (उस पड़ोस वाली भाभी का ही.) लेकिन सुश्री रंजना ने साफ़ कह दिया, "कल तो आपको आना ही होगा और पहले मुझे पढ़ायेंगे भी. फ़ैसला आर या पार का ही होगा और इसके ज़िम्मेदार भी आप ही होंगे." सुश्री रंजना को अपने प्यार की गहराई पर पूरा इत्मीनान था जब कि कुलभूषण ने इसे आयी-गयी बात की तरह लिया और चले गये.

दूसरे दिन चार बजते ही सुश्री रंजना विशेष रूप से तैयार हुई. गोभी के पकौड़े की व्यवस्था की. कुछ किताबें-कापी लेकर मेज़ पर बैठ गई तथा घड़ी की सुइयों की टिकटिक के साथ दिल की धड़कनें सुनती रही. चार दस, चार बीस, चार तीस, अब तो पाँच बज गये! सुश्री रंजना का शक यक़ीन में बदल चुका था कि कुल्लूसर कमला से ही प्यार करते हैं. एक-एक कर वो सारे चित्र जिसमें उनकी कल्पनाओं ने रंग भरे थे. कुल्लूसर और कमला को लेकर, उनकी आंखों से गुज़रने लगे. शरीर का तापमान और हृदय की गति भी बेतहाशा बढ़ चुकी थी. प्रेम का ऐसा विकट अपमान-मन ही मन उन्होंने सोचा-धिक्कार है मुझ पर, मेरे प्रेम पर. फिर तथाकथित उपन्यासकार की वो पंक्तियां गूंजीं–'प्रेम के बिना सब बेकार है और प्रेम की हार सबसे बड़ी हार.'

अचानक वो उठी और कोने वाले घर में जाकर कीटनाशक (म्यूनिसिपैलिटी वाला) की एक शीशी बिना डकार लिये गटक गई. आंगन में जब वो उल्टी कर के छटपटाने लगी, तो दौड़ी-दौड़ी उसकी मां आई. डॉक्टर को बुलाया गया. मगर दवा इतनी कारगर थी कि डॉक्टर आने के पहले ही उसने दम तोड़ दिया.

दूसरे दिन जब कुलभूषण शहर से लौटे, तो सुश्री रंजना के दरवाज़े पर भीड़ देखकर रुक गये. वहीं सामने रंजना का पार्थिव शरीर रखा हुआ था. पुलिस केस था. अतः पोस्टमार्टम वग़ैरह के लिये समय लगना ही था. मृत रंजना को देखते ही कुल्लूसर की समझ में सारा घटना-चक्र आ गया. 'हाय रंजना! ये तुमने क्या किया?' इतना कहकर वहीं धड़ाम से गिरकर अचेत हो गये. लोगों ने यही समझा, एक मास्टर का अपनी छात्रा से लगाव का परिणाम है ये. लोगों ने उन्हें घर पहुंचाया. मास्टरजी देखकर घबरा गये कि क्या हुआ? चंदा भी तमाम गिला-शिकवा भूलकर तीमारदारी में लग गई. नयनतारा अलग सुबक रही थी. बड़ा ही कारुणिक माहौल था. होश में आते ही कुलभूषण चिल्लाये–'हाय रंजना, तुम्हारा हत्यारा मैं हूं. ये तुमने क्या कर डाला?' कम से कम खुलकर तो कुछ कहा होता. मैं कहां जाऊं, कैसे जिऊं, हाय रंजना!

मास्टरजी ने सुना तो झपटकर मुंह दबा दिया, 'नासपीटे! इस उम्र में तू मुझे ये दिन भी दिखायेगा? अगर पुलिस को भनक भी लग गयी तो जानता है क्या होगा?' मगर कुल्लूसर का नैतिक बोध जाग उठा था. जैसे ही थोड़ा संभलते, फिर वही प्रलाप, आख़िरकार बात उड़ते-उड़ते फैल ही गई. फिर कहानी का अंत कुछ यूं हुआ कि पुलिस आकर कुलभूषण को ले गयी. और सारे घटनाक्रम को समझने की कोशिश करते-करते मास्टर पद्मभूषण का धैर्य भी चुक गया. वे वहीं जड़ होकर लुढ़क गये.

भाषा—इस कहानी की भाषा सुश्री रंजना के हृदय के समान सरल, सहज एवं उनके प्रेम के समान प्रवाहमय है. कठिन विषय अंग्रेज़ी की तरह कठिन शब्दों के प्रयोग से कहानीकार ने ख़ुद को बचाया है. कुल मिलाकर भाषा, परिवेश और कहानी के अनुकूल है.

देशकाल—कहानी निश्चय ही हमारे वर्तमान की है, हालांकि कहानीकार ने विगत घटनाक्रम को भी कहानी में पिरोया है, मगर प्रधानता उन तीन, चार माह की घटनाओं की है; जिसमें लगभग डेढ़ साल मज़े में गुज़ारने के बाद प्रतिवर्ष लाखों परीक्षार्थियों का ध्यान पढ़ाई में लगता है. यह समय मैट्रिक परीक्षा के आयोजन के कुछ माह पहले का होता है. वैसे पहले पढ़ना-पढ़ाना उतना ज़रूरी नहीं समझा जाता था, क्योंकि हमारी व्यवस्था में प्रश्न-पत्र बँटने के बाद परीक्षार्थी अपनी पाठ्य पुस्तक से देखभाल कर उत्तर पुस्तिकाएं लिख सकता था. मगर इधर कुछेक वर्षों से हमारी सरकार की नज़र इस (कु) व्यवस्था पर गई, तो स्थिति में अनपेक्षित सुधार हुआ और कड़ाई बरती जाने लगी. सच पूछा जाये, तो इस घटनाक्रम की जड़, व्यवस्था की ख़ामी है. यदि व्यवस्था पहले की तरह खुली-खुली रहती, तो भला सुश्री रंजना के पप्पा को पचास रुपये ख़र्च करके ट्यूशन रखने की ज़रूरत ही क्या थी? जब ट्यूशन ही नहीं रहता तो कुल्लूसर से परिचय कैसे होता? परिचय नहीं तो तो प्यार कैसे होता? इस तरह सुश्री रंजना आज भी जीवित होती और आगे चलकर किसी चपरासी के चार-पांच बच्चों की माता भी बनती. इस प्रकार देश-काल में कार्य-कारण संबंध का भी मेल पाते हैं.

संवाद—किसी भी कहानी की सफलता में उसके छोटे सारगर्भित संवाद होते हैं. प्रस्तुत कहानी भी अपवाद नहीं. इस कहानी की नायिका और उपनायिका के प्रायः सभी संवाद अत्यंत चुटीले और प्रभावोत्पादक है. उदाहरण के तौर पर—

कमला—कुल्लूसर मेरे बनाये पकौड़े की कितनी तारीफ़ कर रहे थे?

रंजना—हाँ! बस, तेरे बनाये पकौड़ों की ही तारीफ़ कर सकते हैं!

कमला—जैसे तू पढ़-लिखकर मास्टरनी बन गयी है.

यह संवाद भी उल्लेखनीय है जिसमें प्रेम की कितनी सजग और सटीक अभिव्यक्ति हुई है.

कुल्लूसर–रंजना, तुमने अपना होमवर्क पूरा नहीं किया, क्यों?

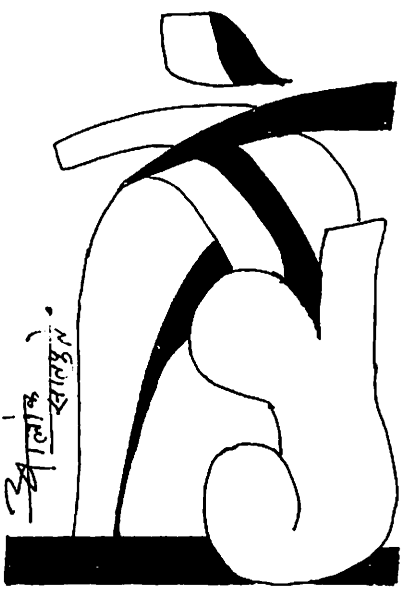
रंजना (थोड़ा शरमाते हुए)–सर कल जब मैं पढ़ने बैठी, तो आपकी बातों में ऐसी खोई कि मेरी आँख ही लग गई.

शीर्षक–चूंकि कहानी का अभी ख़ाका मात्र है और कहानी पूरी तरह तैयार नहीं है, इसलिये शीर्षक की प्रतीक्षा वाजिब है.

उद्देश्य–इस कहानी को पढ़ने से साफ़ समझ में आता है कि इस पिछड़े प्रदेश में जहाँ सी.एम. तक का साक्षर होना भी ज़रूरी नहीं, अभिभावकों को पढ़ाई-लिखाई पर इतना ज़ोर देना ज़रूरी नहीं जहाँ पहले कदाचार की गंगा निर्बाध प्रवाहित होती थी, वहीं कुछ सिरफिरे लोगों द्वारा इसे रोकने का प्रयास ही वह मूल भय था जिसकी वजह से दो मासूम बच्चियाँ अपने प्रिय शग़ल (यथा, घूमना पिक्चर देखना, सिलाई, कढ़ाई) छोड़, पढ़ाई के प्रति संजीदा हुई हैं और उन्हें कुलभूषण जैसे महान शख़्सियत की शरण में आना पड़ता है. उनके भोलेपन का फ़ायदा ऐसे ही घाघ क़िस्म के लोग उठाते हैं और परिणति पाठकों के सामने है.

प्रिय पाठक, मुझे अफ़सोस है कि मैं पूरी, एक समूची कहानी आपके समक्ष लाने में अक्षम रही हूँ. अपनी सीमाओं में क़ैद, मैं इन टुकड़ों को ही आपके सामने रख पाई हूं. कृपया इसे जोड़ कर आप साबुत कहानी खड़ी कर लें. फ़िलवक़्त मैं कुल्लूसर की दशा और दिशा का अवलोकन करने जा रही हूं. ❑

C/o श्री प्रमोद कुमार गुप्ता, प्रिंस पैलेस, वनकटवा, बगहा-1, ज़िला-प. चम्पारण, बिहार



सिकगीरी

हरदर्शन सहगल



रिटायरमेंट के बाद सोचता हूं :

यह 'सिक' भी क्या बला है, जो, सर्विस में क़दम रखते ही, पीछे पड़ जाती है और पूरी नौकरी के दौरान, आप से आप तथा आप के आसपास के साथियों से तरह, तरह के खेल खिलवाती है!

दरअस्ल सिक एक लत है, जो चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी से लेकर अफ़सर तक को लगी रहती है. यहां तक कि इस व्यसन की चपेट में ख़ुद डॉक्टर भी आए रहते हैं.

"सिक कर जा." यह नेक सलाह हर कोई, किसी बिल्कुल स्वस्थ व्यक्ति को दिए रहता है. आपका ट्रांसफ़र हो गया है या बाहर ड्यूटी पर भेजा जा रहा है, तो आपसे सहानुभूति दिखाते हुए, आपके जुएबाज़ दोस्त, प्रेयसी या घर का काम लेने वाले अफ़सर, चौधराहट दिखाने वाले यूनियन-नेता वग़ैरह-वग़ैरह, पान की पीक निकालते हुए, कहेंगे, "अरे तू सिक कर दे ना."

आपका साथी छुट्टी मनाने जा रहा है. ट्रेन में बैठने वाला है और आप उससे खार खाए बैठे हैं तो ख़ुद सिक कर जाइए, या फिर किसी मुहब्बती से करवा दीजिए. अगले की छुट्टी (शॉर्टेज हो जाने से) अपने आप कैंसिल हो जाएगी.

'सिक लेना' आपका मौलिक अधिकार है. इसे कोई भी इंचार्ज मना नहीं कर सकता. एक वाक़िअः सुनाता हूं. एक सुपरवाइज़र ने मना किया था, तो सबने उसे समझाया था कि सिक मीमो देने से आप इनकार नहीं कर सकते. तब सुपरवाइज़र ने बड़े बेमन से सिक मीमो (जी-92) तो काट दी, लेकिन साथ ही डॉक्टर को हिदायत की पंक्ति लिख मारी कि इस कर्मचारी की जांच बारीकी से की जाए. डॉक्टर को इसमें

शेष

हतक लगी कि उसकी ईमानदारी पर शक किया जा रहा है. डॉक्टर ने कर्मचारी को, अपने हिसाब से, फ़ौरन सिक लिस्ट में ले लिया. साथ में सुपरवाइज़र को लिख भेजा, 'इसकी जांच से पहले, मुझे आपके दिमाग़ को चैक करना होगा.' ख़ैर...

जब-जब मैं रिलिविंग ड्यूटीज़ पर रोड साइड स्टेशनों पर जाया करता था, तो स्टेशन मास्टर अपने स्टाफ़ वालों को डांटने के स्वर में कहा करते–इस बाबू के खाने का इंतिज़ाम करो. खाना नहीं मिला तो यह 'सिक' कर जाएगा. और फिर से काम का बोझा हम पर आ गिरेगा. गिड़गिड़ा कर मुझसे मुख़ातिब होते, "बोल सिक तो नहीं करेगा ना! ज़रा बता देना." अगर मैं पहले बता देता, तो वह कंट्रोल फ़ोन पर अफ़सर को कह देता कि बाबू की नीयत साफ़ नहीं है. इसलिए सिक मीमो तो अचानक मांगी जाती है. हाय मर गया. खांस कर दिखाया जाता है. पेट, सर को थाम लिया जाता है. शक्ल बनानी पड़ती है. सिक-स्मृतियों का मेरे पास भण्डार है. सबको यहां स्थान नहीं दिया जा सकता.

एक बार सूरतगढ़ में बाढ़ आ गई थी. मुझे फ़ौरन वायरलैस सैट से लैस मोबाइल-गाड़ी से भेजा गया कि एमरजेंसी-ड्यूटी है. दो रोज़ बाद किसी दूसरे ऑपरेटर को भेज देंगे. लेकिन दो रोज़ तो क्या, दस रोज़ गुज़र गए. इस बाढ़ वाले ख़तरे में कूदने को कोई तैयार न हुआ. मैं 'होमसिक' हो गया. डॉक्टर को अनाप-शनाप बीमारियां गिनवा डालीं. डॉक्टर ने ताईद की, "रियली, वैरी सीरियस. अस्पताल में भर्ती हो जाओ." डॉक्टर साहब, अस्पताल और अपने काम (वर्क लोड) को जस्टीफ़ाई कर दिखाने का अवसर पा गए थे. (अस्पताल ख़ाली पड़ा था) लेकिन मैंने शर्त रख दी कि मुझे सिक में लेने के बाद बीकानेर रैफर कर देंगे. डॉक्टर नट गया, तो मैं भी नट गया. सिक नहीं की.

नौकरी के शुरुआती दौर में बतौर तार बाबू लगा था; लेकिन मुझ से हर स्टेशन पर हर ओहदे का काम लिया जाता–मसलन टिकट कलेक्टर, बुकिंग, पार्सल क्लर्क, ए.एस.एम. गार्ड, ट्रेन क्लर्क. यह सब काम बिना पूरी ट्रेनिंग के, अफ़सरों की धौंस पट्टी के तहत अंजाम देने पड़ते. हां, नई-नई सर्विस में सारे काम सीख लेने का उत्साह भी था कि आगे चल कर सारे अनुभव फ़ायदेमंद साबित होंगे. लेकिन अगर किसी को नाजायज़ तरीक़े से दबाया जाए, तो अगला क्या करेगा! सिक ही तो करेगा!!

जहां तक मैंने पाया है, रेलवे में सबसे कठिन और रिस्की जॉब ट्रेन क्लर्क की होती है. उन दिनों मैं कड़ाके की ठंडी रातों में दिल्ली सराए रोहिला स्टेशन पर ट्रेन-क्लर्क की ड्यूटी निभा रहा था. उस रोज़ रात दस बजे ड्यूटी शुरू होनी थी. मैं आठ बजे पहुंच गया. बिहारी बाबू ड्यूटी बजा रहा था. मुझे देखते ही खिल उठ उठा. बोला–"सहगल! चार्ज संभाल लो. अपन दोनों बारह-बारह घंटे ड्यूटी करेंगे."

"किस ख़ुशी में?" मेरी ज़बान तल्ख़ थी, अपने से आठ घंटे तो होती नहीं...

'हें हें' करता हुआ बिहारी बाबू ट्रेन क्लर्क बोला–"इस शार्टेज में सरीन बाबू को छुट्टी मिल नहीं रही थी. मैंने कहा, तू सिक कर जा. मैं और सहगल, बारह-बारह घंटे कर लेंगे."

मैंने फ़ौरन जवाब दिया–"तू चौबीस घंटे कर. अपन भी सिक हैं." इतना कह कर मैंने ए.एस.एम. से सिकमीमो ले ली. दिल्ली कैंट घर जा कर आराम से सो गया. सुबह उठ कर, नहाया-धोया. सूट पहना. टाई लगाई. दिल्ली सराय रोहिला रेलवे अस्पताल जा पहुंचा. डॉक्टर से कहा कि सुना है, आठ आने पर डे के हिसाब से सिक कर सकते हैं?

डॉक्टर ने मुझे घूर कर देखा, तो मैंने डिटेल में सारी बात समझा दी कि ऐसे-ऐसे मुझ से फ़ालतू की ड्यूटियां ली जाती हैं. सुन कर डॉक्टर मुस्कराया–"हम पैसे नहीं लेता. तुम कम्पाउंडर बाबू से मिल लो."

तब मुझे उसी रेट से सिक लिस्ट में ले लिया गया. हर रोज़ मुझे स्टेशन वाले लोग, बना-ठना देखते तो मज़े लेते–क्या शानदार बीमारी पाई है. बिहारी बाबू को ला'नत देते, जिसने पंगा लिया था और यार्ड मास्टर (इंचार्ज) से भी ट्रेन क्लर्की करवा रहा था.

जब मैंने देखा, स्टाफ़ पूरा हो गया है और इधर मेरा बजट भी गड़बड़ाने लगा है, तो मैंने अपनी सिगनेलर वाली ड्यूटी ज्वाइन कर ली.

इसके बाद मैंने अपनी साढ़े छत्तीस साल की नौकरी में कभी झूठी सिक नहीं की. 1960 में प्रमोशन पा कर मैं रेवाड़ी में वायरलैस ऑपरेटर बन गया. यहां पर 1962 में एक घटना ऐसी घटी जिसके कारण मुझे सिक करनी पड़ी. हुआ यूं था कि मुझे अपने घर ग़ाज़ियाबाद जा कर पत्नी को प्रसव हेतु छोड़ना था. इंचार्ज बड़ी मुश्किल से दो रोज़ की छुट्टी देने को राज़ी हुआ. दो रोज़ की छुट्टी और दस बार पूछ डाला (वह भी आदतन) "इन टाइम आ तो जाओगे ना! वहां जा कर कहीं सिक तो नहीं कर दोगे!"

उसके, इस बात को लगातार दोहराने पर, सहसा मेरे मुँह से निकल पड़ा–"सरदार जी (जी.बी. सिंह) अगर ज़िंदा रहा तो ज़रूर वक़्त सर आ कर शक्ल दिखा दूंगा."

साथ में साल भर का लड़का विवेक था. डिब्बे में ठंड बहुत थी. बाहर थोड़ी-थोड़ी धूप खिल रही थी. पाटोदी रोड स्टेशन आया तो मैं, विवेक को गोदी में लिये, प्लेटफ़ार्म पर धूप में चहलक़दमी करने लगा. सहसा बिना चेतावनी के ट्रेन चल पड़ी. मैं हड़बड़ा गया. बच्चे के साथ चलती ट्रेन पर कैसे चढ़ूं? मैंने खिड़की में से विवेक को, श्रीमती के हवाले किया. तभी खिड़की का वज़नदार दरवाज़ा मेरी दाईं अंगुली पर आ गिरा. आधी अंगुली कट गई. लहू टपकने लगा. किसी के सहारे से चलती गाड़ी

शेष

में चढ़ आया. अगले स्टेशन पर गार्ड से फ़र्स्ट एड ली. ग़ाज़ियाबाद जा कर ढंग से पट्टी करवाई. तीसरे रोज़ वापस रेवाड़ी जा पहुंचा. मुझे देख कर इंचार्ज साहब के चेहरे पर रौनक़ आ गई; लेकिन पूरी घटना जान कर 'ओह सॉरी' कहा. मैं बोला, "सिर्फ़ अपनी ज़बान की ख़ातिर आ गया हूं, वर्ना ग़ाज़ियाबाद में ही सिक कर सकता था. अब यहीं पर सिक करूंगा."

डॉक्टर ने मेरी स्थिति और चोट की गहराई को समझते हुए, मेरा केस रेलवे अस्पताल ग़ाज़ियाबाद को फ़ारवर्ड कर दिया.

ग़ाज़ियाबाद अस्पताल में बेशुमार भीड़ हुआ करती थी. स्टेशन, वर्कशाप, लोको शैड वग़ैरह का स्टाफ़, सुना झूठी सिक किए हुए मज़े मार रहे हैं या अपना बिजनेस चलाए हुए हैं. वहां पर कुनकुनी धूप में, लंबी क़तार में बड़े आराम से दो ढाई घंटे गुज़र जाते. मुझे हर तीसरे दिन पट्टी कराने, हाज़िरी लगवाने, वहां जाना पड़ता. थोड़े ही दिन गुज़रे थे कि डॉक्टर ने कहना शुरू कर दिया–"अब तुम वापस रेवाड़ी जाओ. मैं कहता, "मेरी फ़ेमिली यहीं है. मैं अकेला अपना कोई भी काम हाथ से नहीं कर सकता." वह कहता, "वह तो ठीक है; पर इसमें हमारा क्या फ़ायदा!" मैं कुछ नहीं समझ पाता. यह संवाद हम दोनों के बीच, हर चक्कर में चलने लगा. मैं अपनी हालत का रोना रोता और वह अपने फ़ायदे की बात करता–'मानता हूं, लेकिन....'

इसी प्रकार के संवादों के चलते,सवा महीना गुज़र गया. अब कहने लगा था कि तुम्हारे हैडक्वार्टर से लैटर और टेलीग्राम आ रहे हैं कि हमारे आदमी को वापस भेजो. अब जाओ बाबा. हम भी कहता : इसमें हमारा क्या इंट्रेस्ट है.

तब एक बार मैं बोल उठा, "ठीक है भेज दीजिए."

घाव लगभग ठीक हो चला था. डॉक्टर ने फिर मीमो ईश्यू करा दी.

मैं अपने हैडक्वार्टर रेवाड़ी वापस आ गया. सारा क़िस्सा दोस्तों को बताया. सुन कर सभी हँस दिए, "बुद्धू! अगर डॉक्टर को कुछ रुपए दिये रहता, तो उसका फ़ायदा हो जाता. साथ ही तुम्हारा भी. घर में कुछ समय और रह लेता."

तब जा कर बात मेरे मग़ज़ में बैठी कि डॉक्टर पैसे के इंतिज़ार में मुझे रखे रहा. उस वक़्त यही बात दिमाग़ में नहीं आई होगी, कि मैंने तो जेन्यूइन (असली) सिक कर रखी है. फिर इसके पैसे क्यों दूं! इस तरह, मुफ़्त में बेचारे डॉक्टर को क्यों गुनाहगार बनाऊं! इससे क्या मुझे 'पाप' नहीं चढ़ता!! ❑

5-ई-9 'संवाद' डुप्लैक्स कॉलोनी, बीकानेर 334003 (राज.)

अंकल बाज़ू हटाइये न!

शंकर लाल मीणा

वातानुकूलित बस. प्रांत की राजधानी से देश की राजधानी की ओर...मैं जर्मेन ग्रेयर की किताब पढ़ने में व्यस्त हूं. बस में अपने-अपने अहम् को संभाल कर बैठे ज़्यादातर संभ्रांत कहलाने वाले लोग...किसी के बीच आपसी बातचीत का सवाल ही नहीं. ज़्यादातर अपने-अपने सेलफ़ोन पर व्यवसाय यानी चूना लगाने की कारगुज़ारियों के बारे में बतियाते हुए...खोखली अंग्रेज़ी...निरर्थक बातें...फूहड़ मिसालें...बेशुऊर ठहाके...

खिड़की वाली सीट पर मेरी सहयात्री, साथ वाली पर मैं...दूसरी साइड में खिड़की वाली सीट पर एक महिला है. गोद में छोटा बच्चा और एक तीनेक साल की लड़की. बच्चे को दूसरी सीट पर लिटाया हुआ है, सो लड़की खड़ी है...अपनी पूरी ऊर्जा में है वह. मां से सवाल पर सवाल कर रही है. मां को छेड़े जा रही है और तालियां बजा-बजा कर ख़ुश हो रही है. कभी सवारियां गिनती है, कभी सीटें...बीच-बीच में उस को चुप देख कर मां पूछ लेती है...बेटा नाईनटीन कौन-सी है? वह जांचती-गिनती है, फिर ख़ुश होकर चिल्लाती है...वो रही...कभी वह बीच वाली गैलरी में दोनों तरफ़ की सीटों के बाहरी हत्थों पर हथेलियां टिका, पांव ऊपर कर झूला-सा झूलने लगती है..एक बार तेज़ ब्रेक लगने पर वह झौंक मे घिसटती-सी काफ़ी आगे तक चली गई...तब कंडक्टर ने आ कर उस की मां से कहा–"इस को पकड़ कर रखिये, चोट लग सकती है." मां के अनुशासन में वह थोड़ी देर सहमी-सी खड़ी रही सीट के पास, पर जल्द ही अपनी रौ में फिर से आ गई.

मैं पुस्तक पढ़ने में मसरूफ़...कभी-कभी उस लड़की पर निगाह डाल लेता हूं, वह रुकती है एक पल...एक मोहक-सी मुस्कान...मेरे देखने की पावती दे, फिर अपनी ऊर्जा के प्रदर्शन में लग जाती है.

इस बार नये सिरे से मेरा ध्यान उस पर गया, वह मुस्कराने की बजाय ऐसा भाव चेहरे पर लिये हुए है, मानो कुछ कहना चाह रही हो कब से. मैंने उस की तरफ़ पूछने के अंदाज़ मे देखा कि क्या है, कहना है कुछ... !

"अंकल, बाज़ू हटाइये न!"

मेरी समझ में तुरंत नहीं आ सका कि क्या कह रही है वह और क्या मतलब है इस का? मुझे उलझन में देख उसने सीट के हत्थे से मेरी कोहनी सरका कर भीतर की तरफ़ की और झूलने की तैयारी करने लगी.

"अच्छा-अच्छा..." बेतहाशा हंस पड़ा मैं. उस की मंशा समझ मैंने हत्था पूरी तरह ख़ाली कर दिया उसके झूलने को. उसकी मां ने पहले तो एक ज़ोरदार ठहाका लगाया, फिर मुझ से बोली–"बहुत शैतान है यह..."

"बेटा अंकल को थैंक्यू कहो..." मां के कहने पर उसने एक पल के लिये झूलना बंद कर पांव नीचे टिकाये...थैंक्यू अंकल...कहा और झूलने लगी. ❑

डी-6, 6055/2, वसंत कुंज, नई दिल्ली

सामाजिक न्याय

अशफ़ाक़ क़ादरी

ताक़तवर पड़ोसियों से पिटकर ग़रीब भीखू अपने परिवार के साथ न्याय की आस में थाने पहुंचा. थाने में नेताजी के दौरे, एस.पी. साहब के इंस्पेक्शन को फ़िक्र लगी हुई थी. भीखू की रिपोर्ट लिखने के लिए किसी को परवाह नहीं थी. भीखू के थाने पहुंचने से पहले ही ताक़तवर पड़ोसियों की सिफ़ारिश में नेताजी का फ़ोन पहुंच गया था.

फ़ुर्सत मिलते ही थानेदार ने फटेहाल, घायल भीखू की पीड़ा को नज़रअंदाज़ करते हुए कहा कि आप जिस पार्टी के ख़िलाफ़ मारपीट का मुक़द्दमा दर्ज करवा रहे हैं, उनके लड़के के हाथ पर भी कटने से गंभीर चोट आई है. वे अगर आपके ख़िलाफ़ मुक़द्दमा दर्ज करवा देंगे, तो ज़मानत तक नहीं होगी.

फटेहाल भीखू अपनी बेटी और पत्नी के शरीर पर आये घाव दिखाते हुए थानेदार को रिपोर्ट दर्ज करने की गुहार करने लगा, तो झल्लाकर थानेदारजी ने नम्बर डायल कर सामने वाली पार्टी को कहा, "मैंने तो इसे काफ़ी समझा दिया है, मगर यह मुक़द्दमा दर्ज करवाने पर ही तुला है, तो आप भी थाने आ जायें तो अपना मुक़द्दमा दर्ज करवा देवें. हमें तो सबके साथ न्याय करना है." ❑

बीच का रास्ता

सरेआम दिन दहाड़े पाश कॉलोनी में वर्माजी के बेटे से मोबोइल फ़ोन छीनकर अज्ञात युवाओं द्वारा भाग जाने की घटना से पूरा परिवार सकते में आ गया. नये थाने के हलक़े में दिन दहाड़े डाका! थाना खुलने के बाद भी कोई सुरक्षा नहीं. वर्माजी के मन में मोबाइल लूटने के बाद उसके दुरुपयोग की आशंका उमड़-घुमड़ रही थी. आख़िर में वो अपने वकील मित्र के साथ थाने पहुंचे. थानेदार साहब ने वकील साहब का स्वागत करते हुए कहा कि यह यहाँ आम बात है, इन घटनाओं से बचने के लिए हमें पूर्णतया सचेत, सतर्क और सावधान रहना चाहिये.

हमने मोबाइल लूटने की रिपोर्ट उनके सामने प्रस्तुत की, तो उन्होंने विनम्रता से रिपोर्ट दर्ज करने से मना कर दिया. कहने लगे इससे आप ख़ुद लफड़े में फंस जाओगे, आपने उन चोरों की मोटर साइकिल के नंबर नोट नहीं किये, फिर हम भला उन्हें कैसे पकड़ेंगे? अगर आपकी चीज़ बरामद हो गयी, तो कोर्ट से छुड़वाने में आपको मुश्किल आयेगी. अगर चोर नहीं पकड़े गये, तो हमारे यहां आपकी एफ़.आई.आर. पेंडिंग रहेगी, जिसका जवाब हमारे लिए भारी पड़ेगा.

आख़िर में वकील साहब के काफ़ी अनुनय-विनय करने के बाद बड़ी मुश्किल से थानेदार साहब बोले, "आपको रिपोर्ट क्यों दर्ज करानी है?"

वर्मा साहब बीच में बोल पड़े, "मोबाइल फ़ोन गया तो कोई बात नहीं, मगर कोई उससे दुरुपयोग करके हमें ना फंसा दे. अब हम इसका कनेक्शन कटवाना चाहते हैं."

"तो फिर ऐसा करें कि आप उस मोबाइल फ़ोन की गुमशुदगी की रिपोर्ट दर्ज करवा दें. उसके आधार पर कंपनी से उसका कनेक्शन कटवा लें ताकि आपका भी काम बन जाये और हमारी सिरदर्दी भी ख़त्म हो जाये", थानेदारजी इत्मीनान से बोले. ❑

मोहल्ला चूनगरान, बीकानेर-334 005

रहम

मिता दास



"कुलटा है तू...हमेशा नये-नये यार के साथ घूमती है, ज़रूर सौ-पचास मिल जाते हैं, तभी मैं कहूं, आजकल बदन पे चर्बी कुछ ज़्यादा ही चढ़ रही है. साली रोज़-रोज़ नये-नये यार के साथ मुर्ग़ी, आमलेट, तंदूरी भकोसती है. साली...बापू की याद नहीं आती. जहन्नुम में जायेगी एक दिन देखना. शरीर पर कीड़े पड़ेंगे, बाप हूं तेरा, इस देह पर मेरा भी हक़ है, जनम दिया है मैंने" हांफते हुए अलप्पा एक ही सांस में बके जा रहा था, फिर गुस्से में बिस्तर पर पड़े-पड़े ही झूमते हुए चीख़ा... "घर को पूरा रंडीख़ाना बना रखा है. एक तेरी मां थी पूरी सती सावित्री और ये देखो उसकी कैसी कुलच्छिनी बेटी..."

एक ज़ोरदार ठहाका...पूरा टेन्ट हिल उठता है.

"कुतिया हंसती है अपने बाप के कटे टांग का भी लिहाज़ नहीं! अरे शरीर सुन्दर है तो क्या मन भी सुन्दर रख. शरीर बेचती है तो अपना भी पेट भर और मेरा भी. मेरा हक़ क्यूं मारती है? टांगें गंवाकर अपाहिज की तरह जी रहा हूं. मैंने कभी तुझे भूखा रखा जो तू मुझे इस तरह भूख से तड़पा रही है."

"बापू, मैंने तुझे देखा है सुनामी के सैलाब में मुझे और मेरी मां को छोड़ कर तू कैसे भाग रहा था. वो तो दुकान भरभराकर तुझ पर गिर पड़ी और तेरे पांव जाते रहे. अम्मा ने तुझे बचाने के लिये धक्का दिया और ख़ुद मलबे के नीचे जा दबी. तू पानी में दूर जा बहा. तूने मुझे और मां को ढूंढ़ने की ज़रा भी कोशिश नहीं की, वो मैं ही थी जो कैंप-कैंप डॉक्टर, पहरेदार बाबुओं को रिश्वत देते-देते तुझे ढूंढ़ निकाला. आज यह कैंप का हिस्सा रंडीख़ाना बना, तो इसमें मेरा क्या दोष? तू स्वार्थी था और है और ऐसा होने के लिये मुझे राह किसने दिखाई? कहते हैं जैसा बोओगे वैसा ही पाओगे."...

"मुफ़्त में मैं अब किसी पे रहम नहीं खाती. मुझ पर किसने रहम किया?" वह ज़ोर से चीख़ी. अलप्पा अंदर तक भीग गया. उसने आंखें नीची कर लीं. ❑

63/4, नेहरू नगर पश्चिम, भिलाई (छ.ग.)

सरफ़राज़ 'शाकिर'



न जाने लोग ये क्या कर रहे हैं
उजाले में अंधेरा कर रहे हैं

ज़मीं वर्ना यहां ख़ाली पड़ी थी
जो कुछ है हम ही पैदा कर रहे हैं

हमारे चार सू है शहर लेकिन
बियाबां का नज़्ज़ारा कर रहे हैं

किसी को अब के कोई डर नहीं है
खुले दिल से गुज़ारा कर रहे हैं

बहुत आसान है दामन छुड़ाना
वो सूरज को अकेला कर रहे हैं

बना डाली थी मौला ने तो दुन्या
फ़क़त हम उसका चर्बा कर रहे हैं

किसी से भेद कब छुपता है 'शाकिर'
वो देखो पंछी हल्ला कर रहे हैं

(2)

घोंसलों में हूं, या उड़ान के साथ
इक न इक डर सदा है जान के साथ

अब के कोई अजब लुटेरा था
ले उड़ा सब को वो मकान के साथ

वो तो अंधे कुएं में उतरेगा
तुम चलो तो चलो जहान के साथ

कुछ भी करना नहीं पड़ेगा तुम्हें
बस लुढ़कते रहो ढलान के साथ

आस्मां तो कहीं थमेगा नहीं
ज़िद है जाने की आस्मान के साथ

ज़ख़्म है ज़ख़्म देखते क्या हो
हो गया फिर हरा निशान के साथ

सुनने वाले कहां गए 'शाकिर'
क्यों नहीं क़ाफ़िले अज़ान के साथ

सिवांची गेट, मांगलियों की गली, जोधपुर

डॉ. मोईनुद्दीन 'शाहीन'

सदा साहिल पे' जब तूफ़ान देगा (आवाज़)
ख़ुदा रहमत की चादर तान देगा

सितारों के जहाँ में वो बसा है
मिरे होटों को जो मुस्कान देगा

उसे हम ज़िन्दगी का दर्स देंगे (सबक़)
हमें जो मौत का सामान देगा

ख़ुदा-ए-पाक ही देता है सबको
भला इंसाँ का क्या इंसान देगा

उसे मैं कुल्लियात-ए-'फ़ैज़' दूँगा (समग्र)
मुझे वो 'मीर' का दीवान देगा

वो दिन कब आएगा अल्लाह जब तू
मुझे सबसे अलग पहचान देगा ❑

विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर उर्दू विभाग, राजकीय डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)

अलिफ 'नाज़िम'

इस तरह हो के तिरे ख़्वाब की ता'बीर गिरे
काँपते हाथ से जैसे कोई शमशीर गिरे

अब मिरे सहन में पत्थर नहीं आने वाले
वक़्त कहता है कि ख़ुद पेड़ से अंजीर गिरे

टूट कर यूँ मिरी हर एक तमन्ना बिखरी
जिस तरह फ़र्श पे, दीवार से तस्वीर गिरे

बारिशो! आओ, मिरी छत तहो-बाला कर दो
इससे पहले कि ये टूटा हुआ शहतीर गिरे

मैं तो पहले भी था, इक रिन्दे-ख़राब, आज भी हूँ
लोग बेकार ही करके मिरी तश्हीर गिरे

यूँ उतरती है तिरी याद नवाहे-जाँ में (इलाक़ा)
टूट कर जैसे खनकती हुई ज़ंजीर गिरे ❑

270, ओल्ड ब्रह्मापुत्र होस्टल, जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी, नयी दिल्ली-67

इक़बाल हुसैन इक़बाल

याद आते हैं जब करम तेरे
भूल जाता हूँ सब सितम तेरे

शान शौकत दिखती महल जैसी
जब पड़े मेरे घर क़दम तेरे

प्यार तुझसे है इसलिए ज़ियादा
जो सनम मेरे वो सनम तेरे

ख़ास सरमाया ये रहा मेरा
चार ग़म मेरे चार ग़म तेरे

सब्ज़ बाग़ों को देखता हूँ मैं
काम आए हैं ये भरम तेरे

होश में रहना अब नहीं बस में
अहद तोड़ेंगे आज हम तेरे (प्रतिज्ञा) ❑

1 द 14 सेक्टर 5, हिरण मगरी, उदयपुर (राज.) 313002

अनिल पठानकोटी

बैराग के ख़याल को दिल से निकाल कर
अच्छी तरह से बच्चों की तू देख भाल कर

माता ने फेंक डाला है सुनसान राह में
कुछ रोज़ अपनी कोख में बेटी को पाल कर

दुश्मन दिखाई दे तुझे इंसानियत का गर
वो याद उम्र भर करे उसका वो हाल कर

माना कि दोस्तो, मेरा भारत महान है
पीते हैं लोग पर यहां पानी उबाल कर

महफ़िल में शे'र पढ़ना अगर चाहता है तू
इसका रियाज़ पहले तू दो, चार साल कर

बेटे, हर इक ज़ुबां पे तेरा नाम हो सदा
दुन्या में ऐसा काम कोई मेरे लाल कर ❑

कृष्णा गली, पठानकोट-145 001

मोहम्मद फ़ारूक़ 'रज़ा'

तुम आदमी हो आदमी की ज़ात में रहो
मुंह से निकालो बात तो उस बात में रहो

अपनी जगह पे ज़र्रा भी इक आफ़ताब है
अपना मक़ाम जानकर औक़ात में रहो

ज़ेवर है हुस्न जिस्म को ज़ेवर न बनने दो
शर्मो-हया को ओढ़ हिजाबात में रहो (पर्दों)

सवेरा ख़ुशी का जब तलक पहुंचे नहीं यहां
ग़म का उठा के बोझ सियाह रात में रहो

ये तेज़ रौ ज़माना तो पहुंचा है चांद पर
बस तुम 'रज़ा' परेशां ख़यालात में रहो ❑

फ़ज़ल हक़ पटवारी के घर के सामने, अमरसिंहपुरा, बीकानेर

उद्भ्रांत

फूलों को देखता हूँ खंडहर को देखता हूँ
मैं अपनी ज़िन्दगी के मंज़र को देखता हूँ

मैं क्या था क्या हुआ हूँ इस दौरे-तीरगी में
बाहर को देखता हूँ भीतर को देखता हूँ

आँखों में ख़्वाब देखे ख़्वाबों में आग देखी
पानी में तैरते इस पत्थर को देखता हूँ

हाथों को अपने ढाँपूं या पाँव अपने ढाँपूं
छोटी-सी ज़िन्दगी की चादर को देखता हूँ

'उद्भ्रांत' हुआ हूँ मैं इस दौरे-बेकली में
रहज़न को अब नहीं मैं रहबर को देखता हूँ ❑

'अनहद', बी-463, केन्द्रीय विहार, सेक्टर-51, नोएडा-201307

दिलीप कुमार : क़लमकारों की नज़र में

(एक अहदसाज़ अदाकार)

ख़लील तनवीर

दिलीप कुमार हिन्दुस्तानी फ़िल्मों के एक ऐसे अदाकार हैं जिनके बारे में सब से ज़ियादा मैगज़ीन के ख़ुसूसी नम्बर और किताबें छपी हैं. दिलीप कुमार की फ़िल्में साठ से ज़ियादा नहीं, लेकिन इन में से कुछ फ़िल्मों को छोड़कर उनकी फ़िल्में यादगार फ़िल्में कही जा सकती हैं, जिन्होंने लोगों के दिलों पर अमिट नक़्श छोड़े हैं. यही नहीं, वह अकेले ऐसे ख़ुशनसीब अदाकार हैं जिनकी अदाकारी ने हमारे अदीबों और दानिश्वरों को भी मुतास्सिर किया. कुछ अदीबों की राय यहाँ पेश की जाती है–



नज़्म निगार और ड्रामा निगार नियाज़ हैदर अपने मज़मून 'फ़िल्मी सल्तनत का मुग़ले-आज़म' (रूबी–दिल्ली, शुमारा मई, 1976 ई.) में लिखते हैं–'दिलीप कुमार की किरदार निगारी ने नई नस्ल के लिये एक बड़ा वरसा (धरोहर) जमा कर दिया है. दिलीप कुमार की अदाकारी एक मक्तब (स्कूल) है जिससे नई नस्ल के अदाकारों को हमेशा फ़ैज़ पहुंचता रहा है और आइन्दा भी वह मुस्तफ़ीद (लाभान्वित) होते रहेंगे.'

कहानीकार और नॉवेल निगार कृष्णचन्दर अपने मज़्मून 'फ़िल्मों की आबरू–दिलीप कुमार' (रूबी–मई 1976 ई.) में लिखते हैं–'दिलीप कुमार का अपना रंग है, जुदा लहजा है. मख़्सूस (विशेष) तर्ज़े-अदा है. दिलीप कुमार की अदाकारी की सत्ह आलमी सत्ह की है. यूं तो दिलीप ने तरबिया (सुखान्त) अदाकारी में भी अपने जौहर दिखाए हैं, लेकिन हुज़्निया और अल्मीया (दुखांत) अदाकारी में दिलीप ने एक क्लासिक का दरजा इख़्तियार कर लिया है. इस मैदान में कोई उसे छू नहीं सका.'

शाइर और डायलॉग राइटर अज़ीज़ क़ैसी लिखते हैं–'दिलीप कुमार उन अदाकारों में हैं, जिन्हें अपनी शख़्सियत के जादू से अदाकारी को भी एक मो'तबर (विश्वसनीय) फ़न बना दिया है. जिस अदाकारी के स्टाइल की बुन्याद दिलीप कुमार ने डाली है,

उसी स्टाइल की नक़्क़ाली कितने ही अदाकारों ने की. बा'ज़ उनकी कार्बन कॉपी बनने की कोशिश करते रहे और कामयाब हुए; कुछ लोगों ने उनको यहाँ, वहाँ से उड़ाया, बालों के स्टाइल से आवाज़ के उतार-चढ़ाव से.

उड़ाए कुछ वरक़ नर्गिस ने कुछ ला'ले ने कुछ गुल ने और सब कामयाब हुए. आज के बेहतरीन हीरोज़ जगह-जगह दिलीप कुमार को चुराते फिरते हैं.'

कहानीकार देवेन्दर इस्सर अपने मज़्मून 'एक फ़ितरी फ़नकार दिलीप कुमार' (आजकल उर्दू, शुमारा अप्रैल, 1991 ई.) में लिखते हैं–'दिलीप कुमार एक ऐसे जज़्बाती नौजवान का आर्की टाइप (मिसाली किरदार) बन कर अवाम के दिलो-दिमाग़ पर छा गए जिस की पहचान रूमानी अफ़सुर्दगी (उदासी) बन गई और जिस की तकमील (पूर्णता) देवदास के किरदार में हुई. दिलीप कुमार ने पी.सी. बरुआ और के.एल. सहगल के देवदास को अपने दौर में नए अन्दाज़ में पेश किया. समाजी और सियासी ज़िन्दगी में इन्सानियत परस्ती और अख़्लाक़ी इक़दार (नैतिक मूल्य) की पामाली (बर्बादी) के बावजूद, ख़ुलूस, मुहब्बत और ईसार (त्याग और बलिदान) की रवायत का इस्तेहकाम (मज़बूती) दिलो-दिमाग़ के अन्दर ये जिद्दो-जहद किस तरह जारी रहती है और जज़्बात किस तरह मजरुह (घायल) होते हैं, इन नागुज़ीर (आवश्यक) सब्र आज़मा जंग में यासो-बीम (आशा-निराशा) के जज़्बात की अक्कासी (चित्रण) कैसे मुम्किन है. ये है दिलीप कुमार की अदाकारी का किरिश्मा जिस के बाइस (कारण) वह 'ट्रेजेडी किंग' और 'शहन्शाहे-जज़्बात' के तौर पर मशहूर हुए.

आख़िर में अमिताभ बच्चन की तहरीर (नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली–रविवार 16 जुलाई, 1995 ई.) पेश करना ज़रूरी समझता हूँ. वह लिखते हैं–'दिलीप साहब मेरे लिए प्रेरणा स्रोत हैं. बचपन से मैं उनके अभिनय का, आप कह सकते हैं, दीवाना रहा. मैं ऐसा मानता हूँ कि जितने भी कलाकार उनके बाद आए, दिलीप साहब के अभिनय का असर उन पर पड़ा. मैं भी अपने को इनमें शामिल मानता हूं. जिस निष्ठा और सच्चाई से उन्होंने अपने कलाकार के रूप को पर्दे पर पेश किया, वह उत्तम नहीं, सर्वोत्तम है.

दिलीप कुमार से हसद और रक़ाबत रखने वालों की कभी कमी नहीं रही. एक फ़िल्मी सहाफी (पत्रकार) ज़यप्रकाश चौकसे लिखते हैं–'दिलीप कुमार गुज़रते पचास सालों से देविकारानी द्वारा दिए गए नाम दिलीपकुमार को ढो रहे हैं. क्या फ़िराक़ गोरखपुरी (रघुपति सहाय), जोश मल्सियानी (लभ्भूराम) और बानी (राजेन्द्र मनचन्दा) अपने तख़ल्लुस (उपनाम) का बोझ ढोते रहे हैं! जयप्रकाश चौकसे की सबसे बड़ी परेशानी यही है कि दिलीप कुमार अपनी उम्र के किसी पड़ाव पर अपने असली नाम यूसुफ़ ख़ां को भुला नहीं पाए. ❑

4/800, गांधी नगर, मल्लाई तलाई, उदयपुर–313001

दिलीप कुमार पर लिखने का मौसम

ज़ुबैर रिज़्वी

1994 के शुरू के तीन महीनों को अगर दिलीप कुमार के महीने कहा जाए, तो ग़लत न होगा, क्योंकि अप्रैल आने तक बाज़ार में 'दिलीप—अदाकार और शख़्स' पर एक साथ तीन किताबें आ चुकी थीं. अगर हिंदुस्तानी सिनेमा और फ़िल्म के साथ दिलीप कुमार की वाबस्तगी का अर्सा देखा जाए और फ़िल्म के पर्दे पर उनकी बेमिसाल अदाकारी और बेशुमार हिट फ़िल्मों की याद ताज़ा की जाए, तो ये तीन किताबें नाकाफ़ी लगती हैं और ये ख़याल बहरहाल बेचैन करता है कि दिलीप कुमार 84 बरस के हो गये हैं, इतनी देरी से या इस वक़्त उन पर ये किताबें क्यों मंज़रे-आम पर आयीं. इसका जवाब बस यही है कि अदाकार दिलीप कुमार के लिखनेवालों पर एक क़र्ज़ था जो अदा किया गया और दूसरे उनके हमअस्रों देवानंद, राजकपूर और अशोक कुमार पर पहले ही काफ़ी कुछ किताबी सूरत में आ चुका था. इससे शायद ही कोई इन्कार करेगा कि दिलीप कुमार अपने इन मुआसिर अदाकारों की ज़िन्दगी और उरुज के दिनों ही में अपनी मक़्बूलियत का एक बेहद पुरकशिश ग्राफ़ बना चुके थे. उनकी कामयाब और बॉक्स आफ़िस एतिबार से हिट होने वाली फ़िल्मों की एक तवील फ़ेहरिस्त है. उन पर लिखी गयी किताबों की वरक़गर्दानी से पहले ज़रा ये भी देख लें कि दिलीप कुमार की फ़िल्मी ज़िंदगी का मंज़रनामा कैसा था?



दिलीप कुमार की पहली फ़िल्म 'ज्वारभाटा' थी जो 1944 में रिलीज़ हुई थी. उसके बा'द छह दहाइयों में दिलीप कुमार ने 57 फ़िल्मों में अदाकारी की, जिनमें दो फ़िल्में बंगला में थीं. दिलीप ने चार फ़िल्मों में बतौर मेहमान भी अपना चेहरा दिखाया

था. अपनी 45 फ़िल्मों में ग्यारह मुम्ताज़ हिरोइनों के साथ काम किया, उनमें से तीन अदाकाराएं ऐसी थीं, जिनके साथ उनके इश्क़ के क़िस्से मशहूर हुए. नलिनीजयंत के साथ दो, कामिनी कौशल (पहली मुहब्बत) के साथ चार, मधुबाला (दूसरी मुहब्बत) के साथ चार, मीना कुमारी के साथ चार, निम्मी के साथ पांच, नर्गिस के साथ छह फ़िल्मों, नूतन के साथ दो, रेखा के साथ दो, वैजंयतीमाला (तीसरी मुहब्बत) के साथ सात, वहीदा रहमान के साथ चार और सायरा बानो के साथ चार फ़िल्मों में काम किया. सायरा बानो के साथ दिलीप कुमार ने शादी का फ़ैसला करके पूरे हिंदुस्तान में और ख़ास तौर से फ़िल्मी दुन्या में एक धमाका कर दिया था. धमाका तो उस वक़्त भी हुआ जब उन्होंने औलाद की ख़ातिर अस्मा से शादी की और औलाद की उम्मीद न होने पर उसे तलाक़ दे दी थी. *(जी नहीं, नसीम और सायरा बानो के दबाव में ये क़दम उठाना पड़ा–हसन)*



Courtsey : Gautam Sen, Sahara Time

14 दिसम्बर, 1924 को पेशावर में पैदा होने वाले दिलीप कुमार (असली नाम यूसुफ़ सरवरख़ां) के तेरह भाई-बहन थे. उनका नंबर पांचवां था. उनके बाप मेवे के कामयाब व्यापारी थे और पेशावर से बंबई आ गये थे. दिलीप की ता'लीम बंबई ही में हुई. ख़ूबसूरत दिलीप कुमार की नैनीताल में इत्तिफ़ाक़न मुलाक़ात बंबई टॉकीज़ की मक़्बूल अदाकारा देविका रानी से हुई और उन्हीं की सरपरस्ती में दिलीप कुमार ने अपने फ़िल्मी कैरियर का आग़ाज़ किया.

दिलीप कुमार की कोई तेरह फ़िल्में ऐसी भी थीं जो आधी-अधूरी बन कर

नुमाइश का मुंह न देख सकीं. कई दहाइयों में फ़िल्मफ़ेयर एवार्ड सारी फ़िल्मी दुन्या के लिए क़ाबिले-फ़ख़्र एवार्ड्स माने जाते हैं. दिलीप कुमार को बेहतरीन अदाकार का फ़िल्मफ़ेयर एवार्ड आठ बार मिला है. 1991 में उन्हें पद्‌मभूषण और 1995 में दादा साहब फ़ाल्के एवार्ड और 1993 में राजकपूर की याद में फ़िल्म के लिये बेहतरीन ख़िदमात का एवार्ड दिया गया. 1997 में पाकिस्तान में उन्हें 'निशाने-इम्तियाज़' एं'ज़ाज़ दिया गया. इस एं'ज़ाज़ पर शिव सेना और विश्व हिंदू परिषद् ने दिलीप कुमार के ख़िलाफ़ ज़हर उगला था. दिलीप कुमार को महबूब की 'मदर इंडिया', गुरुदत्त की 'प्यासा' और राजकपूर की फ़िल्म 'संगम' में काम करने से इन्कार के अपने फ़ैसले पर कोई पछतावा नहीं; ख़ास तौर से इसलिये भी कि ये फ़िल्में उनके बग़ैर भी बेहद कामयाब हुई थीं. दिलीपकुमार पर हॉलीवुड एक्टर मार्लिन ब्राण्डो के असर की बात अक्सर कही जाती है. दिलीप कुमार भी ब्रांडों के परस्तार हैं, मगर उनका ख़याल है कि जिस तरह ब्रांडों की अदाकारी सबसे मुख़्तलिफ़ है, उसी तरह वो भी अपनी अदाकारी में सबसे अलग हैं. दिलीप कुमार की अदाकाराना सलाहियत के बारे में अपने वक़्त के मुम्ताज़ अदाकार मोतीलाल ने कहा था कि–'दिलीप कुमार बिला शुब्ह कामयाब अदाकार हैं, मगर उनकी अदाकारी में बड़ी यक्सानियत है और वो अपने ही बनाये हुए दायरे के क़ैदी हो, कर रह गये हैं. उन्हें अपनी अदाकारी के इस घेरे को तोड़ कर बाहर आना चाहिए'. मोतीलाल की इस राय को उस ज़माने की फ़िल्मी दुन्या में ख़ासी हवा दी गयी थी और कहा गया कि दिलीप कुमार एक बेहतरीन आशिक़ के किरदार में बेमिसाल हैं. वो ट्रेजेडी किरदार डूब कर करते हैं. अपने किरदार पर ख़ासी मेहनत भी करते हैं, मगर वो अदाकारी में 'टाइप' होकर रह गये हैं. यही वो मोड़ था जब दिलीप ने डगर से हट कर 'शबनम' और 'आज़ाद' जैसी फ़िल्में कीं. 'गंगा-जमुना' ने जो उनकी अपनी फ़िल्म थी, हिंदुस्तानी सिनेमा में एक नये तर्ज़ के देहाती जीवन और उसके रोमांस के नींव रखने में बड़ी कामयाबी हासिल की. मोतीलाल के क़ौल के मुताबिक़ दिलीप कुमार ने सबसे ऊपर रहने के लिये अपने इमेज को बहरहाल बदलने की कोशिश की थी. दिलीप कुमार को 'शहन्शाहे-जज़्बात' का ख़िताब देने वालों ने भी दिलीप के आशिक़ वाले इमेज को ही ताक़त पहुंचायी थी. दिलीप कुमार के आलोचकों ने इस बात को भी ख़ासी हवा दी थी कि वो अपने हिदायतकार के कामों में दख़्ल देते हैं, लेकिन वो ऐसा उन हिदायतकारों के साथ करते हैं जिनका मर्तबा महबूबख़ां, के. आसिफ़, बिमलराय जैसा नहीं है. दिलीप के जीवनीकार और उनके फ़न के पारख कहते हैं कि दिलीप के इस रवैये को दख़्लअंदाज़ी कहने के बजाय उसे फ़िल्म के साथ उनका गहरा जुड़ाव समझना चाहिये. ख़ुद दिलीप कुमार भी अपने बारे में इसी तरह की वज़ाहत करते रहे हैं. दिलीप कुमार की जिन दो फ़िल्मों की रिलीज़ में ख़ासी ताख़ीर हुई, वो 'सगीना' और 'बेराग' हैं. ये दिलीप की बुरी तरह

नाकाम होने वाली फ़िल्में थीं.

इस पस मंज़र के बा'द अब ज़रा उन तीन किताबों को भी देख लिया जाये जिनकी तफ़्सील इस तरह है. ये तीनों किताबें अंग्रेज़ी में हैं :

1. Dilip Kumar : Star Legend of Indian Cinema by Bunny Reuben
2. Nehru's Hero : by Lord Meghanad Desai
3. Dilip Kumar : The Last Emperor by Sanjit Narwekar

इन किताबों पर फ़िल्म के समीक्षक गौतम भास्करन ने एक लंबा तब्सिरा किया है. उनका ख़याल है कि दिलीप का ज़माना 1960 या फिर ज़ियादः से ज़ियादः 1970 तक था, क्योंकि उसके बाद जो सिनेमा श्याम बेनेगल, मृणाल सेन और ओ. गोपालकृष्णन की हिदायत और फ़िल्मसाज़ी के हवाले से सामने आया, वो दिलीप की फ़िल्म और सिनेमा से ख़ासा मुख़्तलिफ़ है. इन लोगों से पहले सत्यजीत रे और ऋत्विक घटक ज़िंदगी से बेहद क़रीब दिखायी देने वाले सिनेमा की बुन्याद डाल चुके थे और सत्यजीत रे तो 1955 में 'पाथेर पंचाली' के ज़रीए हिंदुस्तानी सिनेमा को दुन्या से परिचित करने की पहल कर चुके थे. भास्करन का कहना है कि इस नये सिनेमा के ज़िक्र का मक़्सद दिलीप कुमार के ज़माने के सिनेमा या उनकी आन, मुग़ले-आज़म, देवदास, मधुमती, लीडर, गंगा-जमुना और दाग़ जैसी फ़िल्मों की कामयाबी से इन्कार करना नहीं है. भास्करन के ख़याल में दिलीप के जीवनीकार बनी रूबैन का दिलीप कुमार को एक दास्तानवी किरदार (Legend) मानना एक आम राय को दोहराने जैसा है. बन्नी दिलीप कुमार के पुराने दोस्त और परस्तार हैं. पांच सौ सफ़्हात की इस किताब में उनकी दोस्तनवाज़ी का जगह-जगह एहसास होता है.

भास्करन ने लार्ड मेघनाथ देसाई की किताब पर तब्सिरा करते हुए लिखा है कि शायद इस किताब को लिखते हुए उन ग़ैर हिंदुस्तानियों को सामने रखा गया है, जो हिंदुस्तानी सिनेमा के बारे में ज़ियादः जानकारी नहीं रखते, इसीलिये अब दूसरी किताब में हिंदुस्तानी सिनेमा और समाज, हिंदुस्तानी मर्दपन का तसव्वुर, सिनेमा की सियासत जैसे विषयों पर हल्के-फुल्के लेख शामिल हैं. देसाई ने दिलीप कुमार को नेहरू पीरियड का हीरो क़रार देने के लिये अपनी दलीलें दी हैं, क्योंकि दिलीप की 57 फ़िल्मों में से 36 फ़िल्में ऐसी हैं, जो 1947-1964 के दरमियान बनी थीं. नेहरू के इंतिक़ाल के वक़्त दिलीप की उम्र 42 साल थी. देसाई के मुताबिक़ शहीद, मेला और नया दौर जैसी फ़िल्मों ने दिलीप को नेहरू-काल के मस्अलों और नौजवान के जज़्बात का तर्जुमान बना दिया था. संजीत नार्वेकर की किताब में दिलीप के फ़िल्मी किरदार और ज़िंदगी के वाक़िआत के साथ-साथ बहुत-से यादगार फ़ोटो भी हैं जिन्होंने किताब को ख़ूबसूरत और महफ़ूज़ रखने लाइक़ बना दिया है. ❑

(ज़ेह्ने-जदीद 38, नई दिल्ली-25)

हमेश नज़्में

अम्बर बहराइची

उर्दू में ऐसे अफ़राद (व्यक्ति) बहुत कम हैं, जिन्हें क़दीम (प्राचीन) हिंदुस्तानी अदबी और शे'री रवायात का इर्फ़ान (ज्ञान) हो और इस इर्फ़ान से कशीद (निकाली हुई) की हुई तख़्लीक़ीयत (सृजन) तो और भी कम लोगों के हाथ लग सकी है. उसमें अहमद हमेश भी हैं, जो एक ऐसे क़लंदर सिफ़त शाइर और अदीब हैं, जिन्हें हिंदुस्तान की क़दीम शे'री और अदबी रवायात का गहरा शुऊर तो है ही, साथ ही उस शुऊर के तहत उन्होंने जो तख़्लीक़ात पेश की हैं, उनसे उनकी इन्फ़िरादियत (अद्वितीयता) अपनी पूरी आबो-ताब के साथ मौजूद है. उर्दू में नस्री (गद्यात्मक) नज़्म की इब्तिदा कहां और कैसे हुई? नीज़ उर्दू की नस्री नज़्म का मूजिद (अन्वेषक) कौन है? इस सवाल का जवाब तलाश करने की ज़रूरत नहीं है. हां, ज़रूरत इस बात की है कि उर्दू नस्री नज़्म का वो कौन-सा मॉडल है, जिसे एतिबार की नज़रों से देखा जा सकता है. बक़ौले अहमद हमेश उनकी नस्री नज़्मों का ख़मीर संस्कृत के ड्रामों के ज़ेरे-असर ख़ल्क (सृजित) होने वाली हिंदी नस्री नज़्म से उठा है. उनकी नस्री नज़्मों के मज्मूए 'हमेश नज़्में' पढ़ कर एक तरह की ये ख़ुशी भी होती है कि उनके सरचश्मे (स्रोत) कोई भी रहे हों, मगर इन नज़्मों की ख़ारिजी (बाह्य) हैअत (आकृति) में बला की शिगुफ़्तगी और मुहाकाती (सम्वादी) अनासिर (तत्त्व) मौजूद हैं. ज़ाहिर है कि बातिनी (अंदरूनी) सत्ह पर मा'नी की कई परतें इस ज़ाहिरी साख़्त (बनावट) के इर्द-गिर्द लिपटी हुई नज़र आती हैं. मा'लूम हुआ कि ये नज़्में अपनी तफ़हीम (बोध) के लिये अपने क़ारी से एक ज़ेहनी मे'यार और आ'ला फ़न्नी तर्बीयत का मुतालबा करती हैं. एक बाशुऊर क़ारी जितनी बार इन नज़्मों को पढ़ेगा, एक हफ़्त रंग जहाने-मा'नी उस पर वा (प्रकट) होता जायेगा. इनकी सभी नस्री नज़्मों के हर मिस्रे' को बड़ी फ़नकाराना चाबुकदस्ती के साथ ख़ल्क़ किया गया है. मिसाल के तौर पर–

उसके लहजे में शाम हो रही थी
और रास्ते, रास्तों को छोड़ते हुए
किसी और रास्ते पर जा रहे थे

शेष

उसका बदन ख़ुद से अलग होने के लिये
अपने ही बदन से पूछ रहा था

या–

ये किस की निदा मावराए-निदा आ रही है!
ये रूए-मशीअत (ख़ुदा की मर्ज़ी) है या ग़ैब का कोई नूरानी हाला
मौत की आमद-आमद है

इस तरह ये बात पूरी तरह रौशन है कि अहमद हमेश ने जो नस्री नज़्में ख़ल्क़ की हैं, वो एक मॉडल की हैसियत इख़्तियार कर गयी हैं और उर्दू नस्री नज़्म को एक वक़ार अता कर चुकी हैं. नस्री नज़्म के नाम पर आज पूरी उर्दू और हिंदी दुन्या में पता नहीं, क्या-क्या लिखा जा रहा है! मगर उन्हें नस्री नज़्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नस्री नज़्म एक ख़ास तरह की फ़नकारी का तक़ाज़ा करती है. ये हरेक के बस की बात नहीं है. 'हमेश नज़्में' अपने उमुक़ (गहराई), उस्लूब (शैली), कसीरूल-मान्वीयत (बहुअर्थी) और बातिनी कैफ़ीयत व सरशारी (मस्ती) के सबब बक़ौले-शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी देर तक पढ़े जाने का सिर्फ़ इम्कान (संभावना) ही नहीं रखतीं, बल्कि रहती उर्दू दुन्या तक अपना सबात (स्थापित्व) भी रखती हैं. मुश्किल ये है कि फ़ारूक़ी जैसे नक़्क़ाद,पता नहीं क्यों, एक मुहतात (सावधानी परक) राय देने में ही तन्क़ीद का कमाल समझते हैं? वर्ना 'हमेश नज़्में' एक ऐसा फ़नकाराना वुजूद रखती हैं, जिनका एतिराफ़ खुले ज़ेह्नो-दिल से किया जाना चाहिये. मुझे उम्मीद है कि अहमद हमेश अपनी क़लंदरी की हिफ़ाज़त करते हुए अपने हाथ के लहराते हुए असा (डंडा) को दर्या-ए-सिंध में फेंकते हुए सिर्फ़ और सिर्फ़ अपनी कहानियों और नस्री नज़्मों के दूसरे मुरक़्क़ओं (अलबम) को इसी आबो-ताब के साथ मुस्तक़बिल में ख़ल्क़ करते रहेंगे ताकि हमारे दौर में जहां Explosion of words ने एक मस्मूम (ज़हरीली) फ़ज़ा तैयार कर दी है, उनकी सच्ची और दिलआवेज़ शाइरी बार-बार अपना छल-बल दिखाती रहे और हमें कभी मायूसी का शिकार न होना पड़े. ❑

हमेश नज़्में/अहमद हमेश/तश्कील पब्लिशर्स, 8/6, 2-जे, नाज़िमाबाद, कराची–74600

590, एसजीपीजीआई, रायबरेली रोड, लखनऊ 226025

ग़ालिब संगीत के सांचे में

डॉ. सैफ़ी सिरौंजी

टी.एन. राज़ हिंदी के मशहूर कवि होने के साथ-साथ कई ज़बानों पर उबूर रखने वाली एक ऐसी शख़्सियत हैं, जिन्हें माहिरे-लिसानियात (भाषा-विशेषज्ञ) कहा जाए, तो ग़लत न होगा. ग़ालिब पर अब तक सैंकड़ों किताबें लिखी चुकी हैं और दुन्या की बेशतर

ज़बानों में उनकी शाइरी के तर्जुमे हो चुके हैं और ये ग़ालिब की ख़ुशनसीबी है कि उन्हें हर ज़बान के लिखने वालों में कोई न कोई हाली (मौलाना अल्ताफ़ हुसैन) मिलता रहा है. उर्दू में तो हाली के बा'द मालिकराम, कालीदास गुप्ता 'रिज़ा' जैसे माहिरे-ग़ालिबयात मिल गये, लेकिन हिंदी में उन्हें रू शनास कराने वाली शख़्सियत टी.एन. राज़ मिले. हालांकि हिंदी में भी ग़ालिब की शाइरी बहुत छपी, लेकिन इस क़िस्म की किताब पहली बार देखने और पढ़ने को मिली, जिसमें ग़ालिब की शाइरी को इस तरह समझाया गया है कि हिंदी का मा'मूली जानने वाला भी इससे लुत्फ़अंदोज़ हो सकता है. आसान ज़बान में ग़ालिब की शरह लिखना कोई आसान काम नहीं है, लेकिन ये काम टी.एन. राज़ साहिब ने बहुस्नो-ख़ूबी कर दिखाया है. 192 सफ़्हात की इस किताब में राज़ साहिब ने ग़ालिब के तमाम मशहूर शे'रों और मशहूर ग़ज़लों की शरह ऐसी मै'यारी और सादा ज़बान में की है कि हिंदी वाले तो दूर की बात है, ख़ुद उर्दू वाले कई, ग़ालिब की शरह लिखने में मात खा गये हैं. एक तो ग़ालिब की शाइरी में इतने पेचो-ख़म हैं कि जब-जब कोई माहिरे-ग़ालिबयात छूता है, तो मा'नी का एक समंदर उसमें मोज्ज़न नज़र आता है और नये-नये मा'नी के दरवाज़े 'वा' होते रहते हैं, जिन्हें हर लिखने वाले ने अपने-अपने ढंग से मा'नी अता किये हैं और करते रहेंगे.

इस किताब में ग़ालिब की मशहूर ग़ज़लों की शरह के इलावा शम्स बदायुंनी और डॉ. नासिर नक़्वी के तास्सुराती मज़ामीन भी शामिल हैं जिनमें टी.एन. राज़ साहिब की इस किताब के बारे में उनके ग़ालिब से इश्क़ के बारे में इज़्हारे-ख़याल किया गया है. बिला शुब्ह ग़ालिब से इश्क़ के बग़ैर इतनी ख़ूबसूरत शरह नहीं लिखी जा सकती है. ऐसी किताब कोई ग़ालिब का सच्चा आशिक़ ही लिख सकता है और ये कारनामा ग़ालिब के एक सच्चे आशिक़ टी.एन. राज़ ने कर दिखाया है. दूसरे ये कि ग़ालिब पर अब तक लिखे वालों ने ग़ालिब को नये-नये ढंग से समझा और लिखा है, लेकिन संगीत के सांचे में पहली बार ही ढाला गया है. इसलिये ये किताब देकर लिखने वालों के मुक़ाबले में और भी इन्फ़िरादी हैसियत रखती है कि अभी तक इस मौज़ू' को किसी ने छुआ तक नहीं था. ये ग़ालिब को समझने और समझाने का बिल्कुल नया तरीक़ा है. टी.एन. राज़ साहिब इसलिये भी डबल मुबारकबाद के मुस्तहिक़ हैं कि उन्होंने ग़ालिब को एक नया अंदाज़ बख़्शा है, वर्ना ग़ालिब की शाइरी में तग़ज़्ज़ल (ग़ज़ल का रंग) के बजाए फ़िक्री अनासिर (चिंतन-तत्व) ज़ियादः हैं, लेकिन ये मुसन्निफ़ का कमाल है कि संगीत के सांचे में ग़ालिब की ग़ज़लों को एक जहान की तरफ़ मोड़ दिया है जिससे किताब में एक इन्फ़रादियत के साथ-साथ पढ़ने वालों के लिये दिलचस्पी फ़राहम कर दी गयी है. ग़ालिब दीगर तमाम शाइरों के मुक़ाबले में मुश्किलपसंद और आसानी से गिरिफ़्त में न आने वाले जैसे शाइर को टी.एन. राज़ साहिब ने संगीत से जोड़ कर आम क़ारी तक पहुंचा दिया है. बिला शुब्ह ये किताब हिंदी और उर्दू वालों के लिये, ग़ालिब को समझने वालों

के लिये एक क़ीमती तुहफ़े की हैसियत रखती है. ❑

ग़ालिबः संगीत के सांचे में ढली ग़ज़लें/ टी.एन. राज़/ किताबघर प्रकाशन, अंसारी रोड, दर्यागंज, दिल्ली/ 2006/ 100.00

सैफ़ी लाइब्रेरी, सिरोंज (एम.पी.) 824464 मो. 9300782056

चार बहनें शीश महल की

सलीम शहज़ाद

नासिरा शर्मा हिंदी की एक अहम अफ़सानानिगार हैं. उनके कई नॉवेल और अफ़सानों के मज्मूए शाए' हो चुके हैं. तख़्लीक़ी सरगर्मियों के इलावा मुसन्निफ़ा (लेखिका) तर्जुमा, स्वानेहनिगारी (जीवनी-लेखन) तन्क़ीद (आलोचना) और मल्टी-मीडिया से भी ता'ल्लुक़ रखती हैं. 'चार बहनें शीश महल की' उनकी कहानियों का उर्दू (तजुर्माशुदा) इंतिख़ाब है. हिंदी कहानी पर जिस इलाक़ाइत की छूट नुमायां है, ज़ेरे-नज़र मज्मूए की बा'ज़ कहानियों पर उसके असरात देखे जा सकते हैं. उत्तर प्रदेश के देहाती मुस्लिम मुआशरे (समाज-संप्रदाय) की तस्वीरें इन अफ़सानों में जगह-जगह अपने अस्ल रंगों में सजायी गयी मिलती हैं. ख़ानदान और ख़ानदानी रिश्ते, रीति-रिवाज और समाजी बंधन, फ़र्द (व्यक्ति) का फ़र्द और मुआशरे पर इन्हिसार (आधार) मुसन्निफ़ा के अफ़सानवी बयान की किलीदी (मुख्य) शनाख़्त है. मुआशरे के सारे मसाइल इन कहानियों में सर उठाते और क़ारईन (पाठकों) से अपने हल तलब करते हैं.

इस मज्मूए की आधी कहानियों में दूसरी औरत और दूसरे मर्द से समाजी-तबई रिश्ते का मौज़ू' सामने आता है. ये रिश्ता कभी मज़्हबी या'नी शरई बुन्याद पर क़ाइम होता और कभी ग़ैर क़ानूनी रास्ते पर भी निकल जाता है. कहानी की हद तक ऐसा होना वाक़िई और ज़रूरी मा'लूम होता है, लेकिन कहानी के बाहर भी ऐसा ही हो रहा है या कहानी के वक़ुए (घटित) को आप चाहें कि बाहर के माहौल पर मुन्तबिक़ (लागू) कर दें, ये मुहाल है. इन कहानियों की क़बूलियत का नुक्ता या जवाज़ (औचित्य) ये है कि इनमें बयानकर्दा शरई मसाइल अफ़साने के मसाइल नहीं बनाये गये. इस ता'ल्लुक़ से जो कुछ कहा गया, अफ़साने के किरदारों (बल्कि अनपढ़ औरतों) ने कहा है और ऐसा कहानी के बाहर वाक़े' होता रहता है.

मज्मूए में तेरह मुंतख़ब कहानियां शामिल हैं और अक्सर कहानियां तवील होने के बावजूद क़ारी (पाठक) को बांधे रखने की अहलियत रखती हैं. यहां उनका मुख़्तसर ख़ाका मुबस्सिर (समीक्षक) की राय के साथ पेश है :

'इब्ने मरयम' भोपाल गैस सानिहे (1984) के पस-मंज़र में है. इस सानिहे के शिकार बा'ज़ किरदारों के तबई (नेचुरल) और नफ़्सी इब्तिला (मनोवैज्ञानिक-परीक्षा) का दर्दनाक बयान है. इस वाक़िए से पैदा होने वाली समाजी, सियासी और ज़ाती ख़ुदग़रज़ी

शेष

का अच्छा मंज़रनामा है ये अफ़साना, ख़ास तौर पर मुतासिरा (प्रभावित) अवाम में अफ़साने के निस्वानी किरदार (नारी पात्र) जिस नफ़्सियाती (मनोवैज्ञानिक) कशमकश से गुज़रते हैं, उसे मुसन्निफ़ा ने बड़े ही मुसव्विराना उस्लूब (चित्र-शैली) में पेश किया है. अफ़साने में दोनों औरतों के नाम (कुबरा और सुग़रा) से क़ियामत का तलाज़ुमा (लाज़िम आना) पैदा करना और इसी तरह याजूज, माजूज और इख़्तिताम (समाप्ति) पर इब्ने मरयम (हज़्रत ईसा) का तज़्किरा जिस मान्वीयत से किया गया है, उससे अफ़सानवी बयान में तलमीही (सूचक) रंग ख़ासे नुमायां हो गये हैं. गैस सानिहे और क़ियामत के इस्तिआराती (रूपकीय) रिश्ते को इससे बेहतर बयान नहीं किया जा सकता.

अफ़साने 'दूसरा कबूतर' में मुसन्निफ़ा ने सऊदी अरब में मुलाज़मत करने वाले एक शख़्स का नाम बदल कर दो लड़कियों से बयकवक़्त शादी कर लेने का बयान इस ज़ैल में किया है कि पैसे वाला मुसलमान मर्द शरीअत के नाम पर अपना जब्र क़ाइम कर लेता है और औरत एक मज़्बूत समाजी पस-मंज़र रखने के बावजूद इस लाइक़ नहीं होती कि अपनी शख़्सी आज़ादी और अपने इंसानी हुक़ूक़ बरूए-कार (कार्यान्वित) ला सके. वो अफ़साने की रज़िया की तरह ख़ुल्अ लेकर अपने (जाबिर शौहर) के बच्चों का बोझ उठाने के लिये तैयार हो जाती है. (ये भी एक तरह का जब्र मालूम होता है) और सादिया की तरह शौहर के एक हादिसे में मर जाने की झूठी ख़बर मशहूर करके एक अर्से तक बेवगी में जीना मंजूर कर लेती है. वैसे अपनी दूसरी शादी का दा'वती कार्ड अपने शौहर को भेज कर वो अपना इंतिक़ाम भी ले ही लेती है.

मुस्लिम मुआशरे में मर्द इक़्तिदार व इख़्तियार का बयान नासिरा शर्मा का पसन्दीदा मौज़ू' है. 'नयी हुकूमत' में अल्ताफ़ अधेड़ उम्र में एक कम उम्र औरत से दूसरी शादी करके अपनी पहली बीवी हाजरा को नफ़्सियाती मख़मसे (उलझन) में डाल देता है. हाजरा लड़-झगड़ कर अपना घर छोड़ देती है जिसे ख़ुद उसने अपनी मेहनत से बनाया और ग़ैर मुल्क में मुलाज़मत करने वाले बेटे की आमदनी से सजाया था. मां के घर वापस आकर हाजरा को मुसीबत के दिन देखने पड़े हैं, मगर वो हिम्मत नहीं हारती. मां के घर को भी बनाती-संवारती है. औरत के ख़ुद कफ़ील (आत्म निर्भर) होने का इशारिया. फिर होता ये है कि उसका बेटा मुलाज़मत से वापस आकर उसे अपने घर ले जाता है. बेटे ने तय कर रखा है कि अपने बाप और नयी मां को घर से निकाल देगा.

मुस्लिम मुआशरे में ख़ुसूसन देहाती मुस्लिम मुआशरे में, मस्जिद के इमाम, मुअज़्ज़िन और मद्रसे के हाफ़िज़ की ख़राब समाजी इक़्तिसादी (आर्थिक) हालत एक मा'लूम व मा'रूफ़ समाजियाती मज़्हर (प्रकटन) है. अफ़साना 'इमाम साहब' ऐसे ही एक इमाम की तबई, नफ़्सी, रूहानी और समाजी उलझनों का बयान है और ये कि मुआशरा अपनी मज़हबी ज़रूरीयात की तक्मील के लिये किसी दूसरे ज़रूरतमंद का

इस्तेहसाल (शोषण) करता है.

कश्मीर के मख़्सूस सियासी पस-मंज़र में अफ़साना 'तीसरा महाज़' उस ख़ित्ते के अवाम को वतन से जब्री हिज्रत (पलायन) करता हुआ दिखाता है. हिंदू-मुस्लिम सियासत, जो ज़ाहिर है कि मर्द सियासतदानों का हथियार है, अपनी चक्की में औरत को किस तरह पीसती है, उसका दस्तावेज़ी सहाफ़ती (पत्रकारिक) बयान इस मुख़्तसर अफ़साने का ख़ास्सा है. औरत जो हिंदू या मुस्लिम मर्दों की तरह कोई जिस्मानी शनाख़्त नहीं रखती, इस अफ़साने में जिन्सी-इस्तेहसाल (यौन-शोषण) का शिकार हो जाने के बावजूद अपनी राह निकालने के लिये कोशां (प्रयत्नशील) रहती है.

'कातिब' एक उर्दू ख़ुशनवीस अकरम की तम्सील (उपमा) से कातिबे-तक़्दीर के किये-धरे पर इंसान को भरोसा कर लेने की तर्ग़ीब (प्रेरणा) देता अफ़साना है. इस ख़ुसूसियत के साथ कि हुनरमंद इंसान तंगी, तुर्शी के हर माहौल में अपना आबो-दाना हासिल कर लेता है और उसे अपना आबो-दाना हासिल करने की धुन लगी रहनी चाहिये. ऊंची सोसायटी के अदबी (साहित्यिक), ता'लीमी माहौल पर ये अफ़साना एक भरपूर तंज़ है.

रज्अतपसंद मुता'सिब (सांप्रदायिक पुरातनपंथी) सियासत ने हिंदुस्तान में मुख़्तलिफ़ मज़्हबों के मानने वालों के बीच नफ़रतों की जो हवा चलायी और आपसी फ़सादों का जो दहशतनाक माहौल पैदा किया है, अफ़साने 'शबीना के चालीस चोर' के किरदार इसी माहौल के शिकार, इस पर तब्सिरा (समीक्षा) करते और इसका बेसूद हल तलाश करते नज़र आते हैं. अफ़साना अगर सिर्फ़ यही होता तो कुछ न होता, लेकिन इसे तख़्लीक़ी (सृजनात्मक) और फ़न्नी-अज़्मत (कलात्मक ऊंचाई) यूं मिल जाती है कि अफ़साने के बयान में एक बच्चा अपनी फ़िक्र (चिंतन), अपने तख़य्युल (कल्पना) और कहानी को हक़ीक़त समझ लेने वाली अपनी फ़ितरत (प्रकृति) के तहत मुल्क में होने या कराये जाने वाले फ़सादों की सारी सूरते-हाल को अली बाबा के चालीस चोरों और इस हिकायत (कहानी) के मुख़्तलिफ़ हवालों से जोड़ता चला जाता है. अफ़सानवी बयान की इस फ़नकारी पर मुसन्निफ़ा को मुबारकबाद देनी चाहिये.

'गूंगी गवाही' एक ख़ूबसूरत कमसिन लड़के के गुम हो जाने या इग़्वा कर लिये जाने और उससे जिन्सी हवस (वासना) पूरी करने के बा'द उसके क़त्ल कर दिये जाने का अफ़साना है. ये सारा वाक़िआ एक गूंगी बच्ची देख लेती है, जिसकी गवाही को गांव का दारोग़ा मो'तबर नहीं मानता और एक खंडहर में लड़के की लाश मिल जाने के बा'द उसके कफ़न, दफ़्न के लिये उज्लत (जल्दी) करवाता है, ताकि गांव का अम्न ख़राब न हो. ये अफ़साना पुलिस की बेहिसी (संवेदनशून्यता) और ख़ुदग़रज़ी का अच्छा अफ़साना हो सकता था, लेकिन गांव में मक़्तूल बच्चे के ख़ानदान के इलाक़ाई मर्तबे (हैसियत) का ज़िक्र तवील हो जाने से अस्ल अफ़साना कहीं छुप गया-सा लगता है.

शेष

"आया बसंत सखी" लखनवी कुर्तों पर बेल-बूटे काढ़ने वाली दस्तकार औरतों के इस्तेहसाल और उनके ख़्वाबों की कहानी है. उन ख़्वाबों पर शिआ-सुन्नी फ़साद कराने वालों के हैबतनाक साये भी हैं.

फ़िरक़ावाराना फ़साद के पस-मंज़र में लिखे गये अफ़साने 'सरहद के उस पार' में एक पागल कुछ इश्क़ व मुहब्बत और कुछ हिंदू-मुस्लिम नफ़रतों के तालमेल से मुआशरत, मईशत (जीवन-यापन) और सियासत के हालिया तसव्वुरात को अपने किरदार व अमल का हिस्सा बना देता है. अफ़साने 'दूसरा ताजमहल' में ऊंची सोसायटी की नैना अपने डॉक्टर शौहर और अमेरिका में रहने वाले बच्चों से जज़्बाती तौर पर दूर हो जाती और मुंबई के एक आर्किटेक्ट से फ़ोन पर मुलाक़ातों के नतीजे में देहली से उड़ कर मुंबई आ जाती है. लेकिन ये पर्वाज़ उसे तानीसी फ़ल्सफ़े (नारी-दर्शन) की बलंदियों तक पहुंचाने के बजाय नशे की तरंगों में अपने फ़ैसला करने वाले एक बेहिस ताज़िर (व्यापारी) तक पहुंचा देती है. फ़ोन पर मीठी-मीठी बातें करने वाला ये शख़्स नैना से मुलाक़ात का वक़्त भी निकाल नहीं पाता और नैना को बेदिली से देहली वापस आना पड़ता है.

इस मज्मूए की टाइटल कहानी 'चार बहनें शीश महल की' एक मुस्लिम चूड़ीघर ख़ानदान की कहानी है, जिसमें लड़कियों की पैदाइश दादी के लिये मस्अला बन जाती है; जैसा कि हर उस ख़ानदान में ये मस्अला सर उठाता ही है, जहां लड़कियां ज़ियाद: पैदा हो जाएं. आपसी रिश्तों के सुख-दुख और रीत-रस्म का बयान करती ये कहानी इख़्तिताम पर कुछ मेलो ड्रामेटिक-सी हो गयी है (या शायद इसे ऐसा ही होना चाहिये था) और इस ड्रामे में चूड़ीहारों के ज़ाती मसाइल के साथ मुआशरे के सियासी, समाजी मसाइल भी शामिल हो गये हैं, बल्कि बाहर के मसाइल ही ने इस कहानी को मेलो ड्रामेटिक बना दिया है.

ये कहानियां तख़य्युलाती बयान नहीं, बल्कि तख़य्युल को अचानक हक़ायक़ (यथार्थ) की ज़मीन पर ला डालने की सलाहियत (सामर्थ्य) रखती हैं. इनमें किसी ख़ानदान के अपने मसाइल सिर्फ़ उसी से जुड़े न रह कर ख़ानदान से बाहर के अवामिल (गतिविधियों) के पैदाकर्दा समाजी, सियासी और मज़्हबी मसाइला से भी अपना गहरा ता'ल्लुक़ रखते हैं. चुनांचे क़ारी को उनमें अपने ख़ानदान और अपने मुआशरे की नब्ज़ें धड़कती महसूस हो सकती हैं. इमाम साहब, कातिब, शबीना के चालीस चोर, दूसरा ताजमहल और इब्ने-मरयम को इस मज्मूए की बेहतरीन कहानियां क़रार दिया जा सकता है. वैसे क़ारईन दूसरी कहानियों को बेहतरीन कहने में हक़ ब जानिब होंगे. (सिवाय तीसरा महाज़ और सरहद के उस पार के) ❑

चार बहनें शीशमहल की/ नासिरा शर्मा/ उर्दू मर्कज़ अज़ीमाबाद, पटना/ 2005/ 250.00

323, मंगलवार वार्ड, मालेगांव-423203

विस्तृत कला-छन्दों का सस्वर पाठ

डॉ. अवध बिहारी पाठक

अभी 'नदियों की आग' विशेषांक से पैदा हुई पाठकों की 'आग' (चिंता) शांत नहीं हो पाई थी और परिषद का 'कला का समय' विशेषांक 'मरहम' के मानिंद हमारे सामने आ गया. निश्चितत: परिषद और संपादक के ऐसे अनुष्ठान माननीय संवेदना को ज़िंदा रखने के अनूठे प्रयत्न हैं. इस अंक की सामग्री 675 पृष्ठों में फैली है और वह सब निर्मल वर्मा और अमृता प्रीतम को समर्पित. पहले पृष्ठ पर अंकित उक्त कवि/लेखकद्वय की उक्तियां 'कला के धर्म और जीवन के मर्म' की सटीक व्याख्या है. कवर पृष्ठ पर छपा चित्र कहता-सा लगा कि अभी कुछ 'शेष' है और उर्दू इबारत कहती-सी लगी कि अजीब शै है ये दुनिया. सब कुछ फ़ानी, फिर भी जीने की तलाश! ग्रंथ में संपादकीय के औपचारिकता की जगह दीवार पर टंगी तस्वीर 'नाजो बी के लिए' कविता केवल शब्द-संयोजन नहीं, बतौर संपादकीय कला का स्मरण और नाजो बी के लिए 'शब्द' का पढ़ा हुआ फ़ातिहा-सा लगा। अंक की वस्तु मौलिक ढंग से वर्गीकृत है. विरासत में उन कलाकारों के व्यक्तित्व/कृतित्व को याद किया गया जो हर हाल में कला से जुड़े रहे. इस कड़ी में रणजीत साहा, श्याम शर्मा, अवधेश अमन, रामधारीसिंह 'दिवाकर' के आलेख कला के सहज प्रमाण की ध्वनि के कारण यादगार रहेंगे. भारतीय पराधीनता के दो पड़ावों के समय सन् 1760 से 1946 एवं आज़ाद भारत में पटना क़लम की प्रगतिशीलता की शिनाख़्त वीरेश्वर भट्टाचार्य ने अच्छी की है. ख़ाके-एक में माधुरी पुरंदरे एवं बूनी नंदिनी के आलेख पश्चिमी कला में मानवीय संस्पर्श को प्रस्तुत करते हैं, ख़ाके-दो में सैयद हैदर रज़ा, हुसैन, गुजराल और रामकुमार की कला में भारतीय आत्म को फैलाव में बदलने की सार्थकता साफ़ दिखी. बिहार का कला परिदृश्य ख़ाके-एक में आज़ादी के बाद बिहार की कला में चेतना का विस्तार, समकालीनता की समिष्टि और संभावनाओं के अनुमान हैं. ख़ाके-दो में कला के सोपानों को माली एवं मंजूषा कला के माध्यम से रेखांकित किया गया है.

मिथला अंचल में लोक-जीवन में धड़कते कला के बिंब और उनके विस्तार की कथा अवधेश अमन और धीरज कुमार कहते हैं. यहां गोदावरी दत्ता सीता, शांति देवियों को याद किया गया है, जिनके लिए कला ही जीवन बनी. पटना क़लम शीर्षक में तीनों आलेख यादों की तरंगों में डूब कर लिखे गए हैं, जो पटना क़लम के कलाकारों/संरक्षकों और संग्रहों की समग्र जानकारी देने में समर्थ हैं. चाक्षुष कला को परिभाषित करता-सा विजयकुमार का आलेख कला संस्थाओं के संघर्ष का जीवंत बयान है, बड़े ही सजीव हैं बुल् इमाम और मिल्ड्रेड आर्चर के आलेख विशेषत: जनजातीय लोक

जीवन की कला संयुक्तता को मूर्त रूप दे सके हैं वे. ब्यूरो, अमर उजाला एवं राष्ट्रीय सहारा जैसे संस्थानों से जुड़े कलाकारों के अवदान की चर्चा 'फ़नकार' शीर्षक से की गई जो संतुलित है. व्यक्तित्व–एक में नरेन्द्रपालसिंह की कला पर केन्द्रित विनोद भारद्वाज, प्रयाग शुक्ल और गीताश्री आलेख कलाकार के विभिन्न कला फ़लकों को बेहतर ढंग से विश्लेषित कर सके हैं. व्यक्तित्व–दो में सबा हसन और रत्नावली कांत पर लिखे आलेख अनुभूतिपरक हैं. गुफ़्तगू शीर्षक में कलाकारों के निजत्व को वाणी दी गई है. 'परिचर्चा' में खगेन्द्र ठाकुर, अरुण कमल और अनिल विभाकर के कथ्यों में यह तथ्य झलकने लगा कि कला कल्पना की ज़मीन पर ज़िंदा नहीं रह सकती, उसे समाज के यथार्थ से टकराना ही होगा, जो वस्तुतः सार्थक निष्कर्ष है, किन्तु यहां लेखकों की दलीय प्रतिबद्धता मुखर हो गई है. बिहार में कला क्षेत्र की गतिविधियों के केन्द्र उन संस्थानों की भी चर्चा है, जो उपेक्षित-से हैं; परंतु फिर भी क्रियाशील भी. कविता भाग में कला को संस्पर्श देती मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, अशोक वाजपेयी के साथ हुसैन और गुलज़ार की कविताएं कला में यथार्थ के परिदृश्य को उपस्थित करती हैं. क्षमासागर में उनके दर्शन की निस्पृहता, तो शहंशाह आलम में रंगों के बहाने आदमी के बचाव की फ़िक्र शामिल है. अनुवाद में निकेफोरास और वास्को पोपा की कविताएं प्रभावी रहीं. किरण अग्रवाल की कविता 'हादसा' में इंसानियत की पहिचान की चिंता है और उससे भी आगे वह आज के 'सभ्य' आदमी से जुझारू प्रश्न करती दिखी. डायरी में अमृता शेरगिल के पत्र उनकी कला-धारणा में परिवर्तन के संकेत देते हैं. रणजीत शाहा का लेख गिरीश दा का 'ध्रुव से ध्रुवांत तक' पहुंचने का ख़ाका है जो बेहद ट्रेजिक है कहानी ओ हेनरी, रेणु में जीवन में कला की चिंता की बानगी, जावेद हसन की कहानी में बिहार की धरती में अभी भी संवेदना बचे रहने का आख्यान है, तो दूसरी ओर देश के जनतंत्र पर तीखा व्यंग्य. 'और कुछ' शीर्षक के आलेख, यथा दिवाकरजी का आलेख आदि अपनी प्रस्तुति में अनूठे हैं. इस कला केन्द्रित विशाल अंक में राजा रवि वर्मा, वी.के. मित्रा और जगन्नाथ जैसे कलाकारों पर चर्चा न होना अचंभित करता है जबकि कला में उनका अवदान विपुल रहा है और कला पर प्रभाव भी. हो सकता है यह संपादकीय विवशता हो–परंतु यह सब 'साक्ष्य' के अंक के विशाल अनुष्ठान में गौण ही है. 'परिषद' का यह प्रयास देखकर भी देश की परिषदों की चुप्पी शर्मनाक है. एक आश्चर्य यह भी होता है कि राजनीति के गंदे वातावरण में रहकर भी जाबिर हुसैन के इन्सानी सरोकार उनमें अभी जीवित हैं. मेरी साहित्य और कला के बचाव में कामना है ईश्वर से, कि अपने ढंग के इकलौते इस चिंतक/लेखक जाकिर हुसैन को संघर्षी, और–और संघर्षी बनने की ताक़त दे. ❑

पुराने डाकघर के पास, सेंवढ़ा-475682

प्यारे दोस्त हसन जमाल, यादें, इसका इल्म तो आपको हुआ होगा कि मैं जनवरी के निस्फ़ हिस्से तक देहली में था. बात ये हुई कि नेशनल अकादमी ऑफ़ परफ़ार्मिंग आर्ट्स, कराची में संस्कृत नाटक की तदरीस की गूंज भारत तक पहुंची. जबकि ज़िया महीउद्दीन तो साहिबे-कमाल हैं. डॉ. गोपीचंद नारंग ने इख़्तिलाफ़ात के बावजूद मुझे और ज़िया साहिब को सज्जाद ज़हीर सेमिनार में बराये शिरकत मदऊ किया. मुआमला कुछ टेकनिकल भी था. अलबत्ता मैं अपने जज़्बात की इंतिहा पर था कि मैंने अपने देरीना दोस्त श्री मणिशंकर अय्यर (जो अब खेल व सक़ाफ़त के वज़ीर हैं) के मेहरबान ज़रीए से वीज़ा बढ़वाया और अपने गांव मौज़ा बांसपार ज़िला बलिया हो आया. अपने छोटे भाई अहमद कमाल और उसके बच्चों से मिला. आंसुओं और जज़्बात की सरशारी बयकवक़्त हमराह थी.

अब की बार देहली में ये देख कर दुख हुआ कि लोग अमेरिकन हो गये हैं. जीन्स-पेंट पहन रहे हैं. शाज़ो-नादिर कोई भारती पहचान दिखायी पड़ी. *जिसका घर स्टेशन से क़रीब होता है, उसकी गाड़ी छूट जाती है.* भारत में संस्कृत तो कुजा, शुद्ध हिंदी के उच्चारण भी सहीह् नहीं कर पाते. मैंने कनॉट प्लेस से आगे ख़ान मार्केट के म्यूज़िक हाउस में कालीदास के नाटक 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' की फ़िल्म या सी.डी. तलब की, तो उनके पास थी ही नहीं. इसी तरह शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' की सी.डी. तलब की, तो मुझे म्यूज़िक़ हाउस वाले ने 'उत्सव' के नाम से एक सी.डी. दी. देख के पता चला कि गिरीश कर्नाड की हिदायतकारी में ग़लत फ़िल्म बनी है. शूद्रक के नाटक वाली बात है ही नहीं.

अहमद हमेश, एडिटर, तश्कील, 2-जे 8/6, नाज़िमाबाद, कराची

आपके दस दिसम्बर के ख़त का जवाब मुझ पर तक़रीबन चार माह से वाजिब है. वज्हः हम दोनों की बीमारियां हैं और क्लिनिक का काम जिसे आदत की बिना पर छोड़ नहीं सकते हैं. न जाएं तो मरीज़ परेशान होते हैं और घर में पूरे वक़्त हम ख़ुद को बेकार महसूस करते रहते हैं. ये पेशा ही ऐसा है. ख़ुसूसन बच्चों के मरज़ और नफ़्सियाती इलाज के शो'बे जिन में मरीज़ों और उनके घर वालों से रिश्तेदारी-सी हो जाती है.

आपकी सेहत की तरफ़ से फ़िक्रमंद रहता हूं, क्योंकि आप एक बड़ा काम कर रहे हैं जिसके लिये दिमाग़ी और जिस्मानी, दोनों सेहतें ज़रूरी हैं. एक तवील मज़्मून हुआ–'कभी मेरी, कभी उनकी देहली'. उसमें मेरे 1983 में देहली जाने और जोगिंदर

शेष

पॉल के घर ठहरने की रूदाद है. उसमें जहां और बातें आयी हैं, वहां आपका ज़िक्र भी है कि भारत में उर्दू अदब को हिंदी रस्मुलख़त में मुंतक़िल करने का काम जो आप और दूसरे अदीब कर रहे हैं, उतना ही अहम है जितना पंजाब से भारत जाने वाले उर्दू अदीबों, हिंदुओं और सिक्खों ने किया था. उर्दू पर वो वक़्त बड़ा बुरा वक़्त था और हिंदुस्तान में रह जाने वाले उर्दू अदीब बेसहारा हो गये थे. मैं अवस्थी का लखनऊ का छपा हुआ क़ुर्आन मजीद का हिंदी तर्जुमा पढ़ा करता हूं. अब तो वहां हिंदी लिपि में आहिस्ता-आहिस्ता तमाम मज़्हबी लिटरेचर आता जा रहा है. आपके कम को सराहा जाये न सराहा जाये, आने वाली नस्लें इसकी क़द्र करेंगी.

डॉ. हसन मंज़र, 513-बी, यूनिट-8, लतीफ़ाबाद, हैदराबाद (सिंध)

इधर लम्बे अर्से से कुछ भी लिखने की तरफ़ से दिल उचाट है, बस कुछ भी उल्टा-सीधा पढ़ता रहता हूं या किसी सेमिनार के लिये मक़ाला लिखने का मौक़ा कभी-कभी मिल जाता है. मेरा ख़याल है कि आपका रिसाला एक ज़रूरी काम अंजाम दे सकता है. वो ये कि आज सामराजी ताक़तें और अमेरिका के 'न्यू कंजरवेटिव्स' आलमी सत्ह पर अपने मवस्सिर प्रोपेगंडा मिशनरी के ज़रीए मुसलमानों को जिस तरह दहशतपसंद साबित करने की मुहिम चला रही है, उसके ख़िलाफ़ आलमी सत्ह पर जो कुछ लिखा जा रहा है, उनके हिंदी तर्जुमे अपने रिसाले में शाए' कर सकते हैं ताकि हिंदी क़ारी के ज़ेह्न में ऐसे झूठे प्रोपेगंडे के ख़तरनाक असरात को पनपने न दिया जाये. ज़रा इस मौज़ू' पर सोचिये.

इक़्बाल मजीद, 132-बी, कोहे-फ़िज़ा, भोपाल

कभी-कभी इतिहास की छोटी-छोटी घटनाएँ भी कवियों-कलाकारों की कल्पना से किस क़दर महत्त्वपूर्ण व अविस्मरणीय बन जाती हैं, इस तथ्य को निज़ामी साहब ने बड़ी प्रामाणिकता के साथ साबित कर दिखाया है. आश्चर्य है अकबर के समकालीन इतिहासकारों ने जिसका ज़िक्र तक नहीं किया, वह अनारकली आज भी लोगों की स्मृतियों में जीवित है और उसे इस तरह के तथ्योद्घाटन कभी मिटा भी नहीं पायेंगे.

और आबिद सुहैल द्वारा उकेरा गया एम. चलपति राव का रेखाचित्र (जिसे मैं संस्मरण कहना अधिक पसन्द करूँगा) भी लाजवाब है. क्या आज के रीढ़विहीन (केंचुए) पत्रकारों को देख कर यह कहा जा सकता है कि कभी उनके ही पेशे में ऐसे भी लोग रह चुके हैं जिनकी देश के प्रधानमंत्री तक इज़्ज़त करते थे. मुझे याद है अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'मेन स्ट्रीम' के संपादक निखिल चक्रवर्ती भी ऐसे व्यक्ति थे, जिनसे वैचारिक भिन्नता रखते हुए भी, लालकृष्ण अडवानी तक उनका सम्मान करते थे. दरअस्ल वह ज़माना ही हार्दिक उदारता और मत-मतान्तरों के प्रति सहनशीलता का

था. अब हम जितनी तेज़ी से ग्लोबल हुए हैं, उतनी ही तेज़ी से संकुचित भी हुए हैं. परिणाम यह हुआ है कि हम अपने देश के लोकतांत्रिक व बहुसांस्कृतिक होने की डींग तो हाँकते हैं, पर जरा-सी अपनी आलोचना, अपने धार्मिक पाखंड और सांप्रदायिक कट्टरता के ख़िलाफ़ टिप्पणी पढ़-सुनकर आक्रामक प्रतिक्रिया करने पर उतारू हो जाते हैं. ऐसे में एम.सी. और एन.सी. जैसे लोग हमारे आदर्श बन सकते हैं. इस तरह के संस्मरण जब भी, जैसे भी मिलें कृपया अवश्य छापते रहिये.

सुरेश पण्डित, 383, स्कीम नं. 2, लाजपत नगर, अलवर (राज.)

अपनी अदना सोच के बरास्ता आपकी तहरीर में कुछ और जोड़ना चाहता हूं. क्या एक बारगी किसी एक इंसान को पूरा राष्ट्र 'पिता' कहने को तैयार हो जाएगा? किसी के प्रति अटूट श्रद्धा होने पर उसे 'पिता तुल्य' तो कहा जाता है...नेताजी (सुभाष चन्द्र बोस) महामना, पंजाब केसरी, गुरुदेव जैसे सटीक उच्चारण सीधे जनता की आवाज़ की देन हैं. अशफ़ाक़उल्ला ख़ां, चन्द्रशेखर आज़ाद, ख़ुदीराम बोस, भगतसिंह, रासबिहारी बोस, अब्दुल करीम छागला जैसे सीधे राष्ट्र के हृदय में विराजमान हैं. ये तगमों के प्रचार के मोहताज नहीं.

राष्ट्रपति=सोचता हूं, अगर डॉ. लक्ष्मी सहगल, चुनाव जीत जातीं तो औरत होने पर वह क्या कहलातीं? राष्ट्रपति भवन तो जाने दें बड़े ओहदेदारों जैसे कलक्टर, पुलिस अधीक्षक आदि के बंगलों में बक़ाया जगह में कितने मकान बन सकते हैं जबकि लोग फुटपाथों पर. हमारे आदरणीय व्यक्तियों पर जो डाक टिकट निकाले जाते हैं, पोस्ट ऑफ़िस वाले उन्हें ठप्पों से रौंद कर उनके चेहरों पर कालिख पोत देते हैं. स्टेचुओं पर पक्षी बैठ-बैठ कर क्या करते रहते हैं जमाल भाई? कुछ लोग उन्हें विकृत कर दंगों को सरअंजाम देते हैं, क्यों?

पद की शपथ भगवान, धर्म ग्रंथों के नाम पर लेते हैं. कचहरी में भी यही परम्परा है, जो अब अधिकांशतः बेअसर हो चली है. वक़्त आ गया है, शपथ अपने पति, पत्नी, बच्चों की दिलवाई जाए. शायद नुस्ख़ा कुछ रंग लाए. अमरीक सिंह 'दीप' 'कॉमा' पत्रिका में लिखते हैं, जब उन्हें मालूम हुआ कि हमारे प्रिय कवि श्याम नारायण पाण्डेयजी को पद्मश्री मिला है तो वह गद्गद् हो कर ढूंढ़ते हुए उनके ठिकाने जा पहुंचे. पता चला, यह कोई दूसरे श्याम नारायण पाण्डेय हैं, 'हल्दीघाटी' वाले नहीं. (हल्दीघाटी वाले तो किसी कोने में उपेक्षित पड़े हुए हैं). साहित्यिक अवदान नगण्य राजनैतिक चापलूसी ख़ूब है. क्या यह सब हमारे राजस्थान सहित हर प्रदेश में देखने को नहीं मिल रहा?

जिन्हें पुरस्कार मिलते हैं, वे कहते हैं, जारी रहने चाहिएं. जो नहीं ले पाते वे कहते हैं इन्हें (पुरस्कारों 'अकादमियों' को) फ़ौरन बंद कर दो. कुछ भले लोग हैं जो

प्रकाशकों से कहते हैं, पूरे आत्मविश्वास के साथ कि बस आप तो किताब (भले ही पैसे ले कर) छाप दें. पुरस्कार हम ख़ुद ले लेंगे.

अगर पाठकगण मुझे ख़ूब सारे पैसे दें तो अपना दिमाग़ ज़रा और ख़राब करूं. पुरस्कारों, गुटबाज़ी, माफ़ियाओं पर लिखने के लिए ज़ख़ीरा है, पर पाठक ऐसा करेंगे नहीं. उनके पास भी बताने को बहुत कुछ होगा. इलाक़ाई अनुपात से देखा जाए तो हिन्दी-उर्दू को 200 पुरस्कार दिए जाने चाहिएं.

इब्ने इंशा की नज़्म पढ़ कर अंदर तक हिल गया. बराए करम कोशिश कर उनकी और नज़्मों को शाया करें. मधुरेश जी तथा प्रेमकुमार जी, लता शर्मा ने भी अच्छा लिखा. ल.क. सभी अच्छी हैं.

हरदर्शन सहगल, 5-ई-9 'संवाद' डुप्लैक्स, बीकानेर-334 003

सोच और संवेदना की सामग्री में विविधता है. 'अनारकली' के बारे में कुछ नया जानने-समझने का मौक़ा मिला. अतीत के प्रसंगों में नफ़रत के आईने में देखने के आदी तथाकथित झंडाबरदारों को सुरेश पंडित का आलेख ज़रूर पढ़ना चाहिए. निर्मल वर्मा के अवदान पर मधुरेश ने तटस्थ तथा बेबाक राय व्यक्त की है. 'कुतुबनुमा' में गोपीचंद नारंग के बहाने उर्दू अदब के बारे में जानने का मौक़ा क़ादरी साहब ने दिया है तो 'अरब, ज़बान और तहजीब' पर इंतिज़ार हुसैन ने चिंतन के लिए सोच. राजेन्द्रसिंह बेदी तथा जावेद अख़्तर से वैचारिक-मुलाक़ात स्मरणीय बन पड़ी है. औरत के वुजूद पर ख़ुदेजाख़ान की टिप्पणी तथा 'नई दुन्या' से उद्धृत सामग्री विचारोत्तेजक है. सृजनात्मक सामग्री का संयोजन. सदा की तरह पठनीय है, विशेष रूप से 'ऊंटनी' 'पिनकोड' 'पारादोज़' कहानियां, नज़्में और ग़ज़लें.

डॉ. सतीश दुबे, 766, सुदामा नगर, इन्दौर-452 009

अंक हमेशा की तरह भरपूर है सर्जनात्मकता से. मेरे जैसे व्यक्ति के लिए, (जो उर्दू लिपि नहीं पढ़ पाता हो) यह पत्रिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है. इसमें फ़िराक़ साहब का ख़त और राजेन्द्र सिंह बेदी पर सामग्री बहुत ही महत्त्वपूर्ण है.

राजुरकर राज, एच-3, उध्दवदास मेहता परिसर, नेहरू नगर, भोपाल-462003

आपके लेखन का मैं लम्बे अर्से से क़ायल रहा हूं. लाग-लपेट से दूर. अपनी बात को ईमानदारी से कहने का ज़ज्बा और ताक़त आज बहुत कम लोगों में है. आज सब लोग (लेखक-संपादक) स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श आदि की फ़सल काटने में मशग़ूल हैं. अस्ल मुद्दों से दूर. शेष ईमानदारी से अपनी भूमिका निभा रही है. निर्मल वर्मा पर मधुरेश का लेख काफ़ी अच्छा है. अपनी ज़रूरत को साबित करता है.

राजेंद्र राजन, संपादक 'इरावती', टीका चेलियां, धर्मशाला, (हि.प्र.)

अंक-39 की सभी कहानियां नायाब हैं. पारादोज़, डरा हुआ आदमी, पिनकोड बहुत प्रभावित करती हैं. राजेंद्रसिंह बेदी से मुलाक़ात पसंद आयी. प्रसंगवश में सभी टिप्पणियां ग़ौरतलब हैं. शुक्लजी, नदीम और पूरनसिंह की लघुकथाएं बहुत अच्छी हैं. फ़िराक़ गोरखपुरी का ख़त ऐतिहासिक है.

भवानीसिंह, 85 गायत्रीनगर, महारानी फ़ार्म, दुर्गापुरा, जयपुर (राज.)

आपने जन.-मार्च के अंक में हिन्दी और उर्दू के कुछ वैसे व्यक्ति रचनाकारों के बारे में आलेख प्रकाशित किये हैं, जिन्होंने अपने समय और समाज को अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के ज़रिये गहरे प्रभावित किया है. निर्मल वर्मा, जोश, फ़िराक़ ग़ोरखपुरी, एम. चलपति राव (एम.सी.) राजेंद्रसिंह बेदी, जावेद अख़्तर से संबंधित संस्मरण, रेखाचित्र और बातचीत ख़ासतौर पर पसन्द आये. आपका संपादकीय-'हम ख़ाकनशीनों की ठोकर में' भी दिलचस्प है. कहानियां और उपन्यास-अंश अभी पढ़ नहीं पाया हूं. वैसे ग़ज़लें, नज़्में और कविताएं ठीक-ठाक हैं.

रामनिहाल गुंजन, नया शीतल टोला, आरा-802301 (बिहार)

सम्पादकीय 'हम ख़ाकनशीनों की ठोकर में...' पढ़कर अच्छा लगा. पुरस्कारों व कथित सम्मानों के पीछे भागते साहित्यकार इससे कुछ सबक़ लेंगे. राजेन्द्रसिंह बेदी और जावेद अख़्तर से गुफ़्तगू भी प्रभावशाली है. इन सबसे हटकर सफ़दर इमाम क़ादरी की गोपीचंद नारंग के लिए लिखी बेबाक टिप्पणी उनके सच को उजागर करती प्रतीत हुई. इब्ने-इंशा की आख़िरी नज़्म भी दिल को छू गई. आशा है, शेष, में उत्कृष्ट सामग्री का बड़ा भाग आना अभी भी शेष है.

कृष्णकुमार 'आशु', अक्षर-128, माइक्रोवेव टॉवर के पास, श्रीगंगानगर (राज.)

क्या करूं 'शेष' एक बार जो पढ़ा, पढ़ता ही चला गया. शाइरे-इंक़िलाब जनाब जोश मलीहाबादी का एक मिस्रा' है–"पढ़ते पढ़ते मेरी आँखें थक गयीं." 'शेष' से परे जाने को जी नहीं चाहता. कितनी बार कहूं कि जो लोग उर्दू पढ़ना नहीं जानते, उनके लिये आप एक पैग़म्बर *(नाउज़ो बिल्लाह! पेशकार कहिये कि अपनी मुलाज़मत में भी वही रहा–हसन)* से कम नहीं, जो हिन्दी में उर्दू का बेशक़ीमती सरमाया परोस रहे हैं. उर्दू के रस्मुलख़त बाबत आपके नुक़्त-ए-निगाह से मैं भलीभांति सहमत हूं, पर जमाल भाई, मेरे जैसे हज़ारों उर्दू न जानने वाले आपको दिल से दुआ भी तो दे रहे हैं. वैश्वीकरण के इस युग में यूं भी तो अदब और ख़ासतौर पर उर्दू का ग्राफ़ इतना आकर्षक नहीं है, अतः विनती है कि इसे 'शेष' के माध्यम से जारी रखिये. बेशक अपनी जेब से भारी रक़म ख़र्च करके ही, जो आप कर भी रहे हैं. मेरे साथ त्रासदी ये है कि मेरे वालिद अपने ज़माने के उर्दू के जाने-माने अदीब थे, जिनके क़लम का

लोहा 1951 के किसी 'आजकल' के शुमारे में शाइरे इंक़िलाब जोश मलीहाबादी ने भी माना था सो आंख खोलते ही हज़ारों किताबें पत्रिकायें-उर्दू की मेरे सामने थीं. माहौल एकदम अदबी था. मग़ूबअली, ख़लील तनवीर और राजेन्द्र तिवारी को मैंने देखा तो नहीं, हां, उनसे प्यार बहुत करता हूं.

अनिल पठानेकोठी, कृष्ण गली, पठानकोट-145001

'शेष' का जनवरी-मार्च 2006 अंक अपने भीतर तूफ़ान से भरा था. गुज़ारिश में 'हम ख़ाकनशीनों की ठोकर में ज़माना' ने अरूंधति राय के बहाने हमारी अकादमियों, प्रकाशकों के सिस्टम की पोल खोली. 'तारीख़ के आईने में अनारकली', फ़िराक़ गोरखपुरी का एक तारीख़ी ख़त जोश मलीहाबादी के नाम, नये सच से साक्षात्कार कराते हैं. 'शेष' में इस बार 'माज़ी के दरीचे से' मैं राजेन्द्र बेदी से एक मुलाक़ात में उनकी पीड़ा साफ़ नज़र आयी कि उन्हें किसी एक कहानी से पहचाना जाता है जबकि उनकी बहुत-सी कहानियां उस स्तर की हैं. 'गुफ़्तगू' में जावेद अख़्तर से फ़ज़ल इमाम मल्लिक की मुलाक़ात Live सजीव रही. मैं जावेद साहब के बोलने के तरीक़े से वाक़िफ़ हूं. फ़िल्मों के लिए बरसों लिखने वाले जावेद अपने निजी क्षणों में समाज के लिए चिंतन करते रहते हैं, इसलिए वे मौजूदा माहौल में साहित्यकारों की भूमिका पर बेबाक कह गये. ज़िन्दगी के सही मूल्य खोजने तथा लोगों तक पहुंचने की चुनौती जावेद बताते हैं. इलेक्ट्रोनिक मीडिया में किताब पर मंडराते ख़तरों, मुशायरों, कवि सम्मेलनों में बदलाव हिन्दी-उर्दू को लेकर सवाल मुल्क की मौजूदा सूरतेहाल से लेकर अपने फ़िल्मी लेखन तक जावेद के जवाब आशाओं भरे हैं, नई संभावनाएं जगाते हैं. एम. चलपति राव (एम.सी.) का ख़ाका भी दिल के भीतर तक छू गया. 'रक्से शरर' मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद की ख़ुद नविश्त में यादों के दरीचे खुल पड़े, शायरी के दिग्गज रूबरू सामने आ गये.

'शेष' की कहानियां पारादोज़, ऊंटनी, डरा हुआ आदमी, ढलान पर फिसलते लोग, पिनकोड यादगार रहीं. उपन्यास अंश 'सांप और सीढ़ियां' रौंगटे खड़े करने वाला था. प्रसंगवश में नैतिकताओं के टकराव के बहाने, औरत क्या चाहती है, इस्लामी मुल्क में ग़ैर इस्लामी रस्म भी नये सवाल खड़े करते हैं. मुख़्तसर में इस बार सभी लघुकथाएं करंट भरी थीं.

अशफ़ाक़ क़ादरी, मोहल्ला चूनगरान, बीकानेर-334005

'शेष' (जनवरी-मार्च 06) की ये बात विशेष लगी कि–'अरूंधति राय ने साहित्य अकादमी का इनाम न लेकर त्याग व अपनी दिलेरी का सबूत दिया है–जो प्रशंसनीय है. तेलुगु के कवि शेषेन्द्र शर्मा ने कहा है कि–'कविता (साहित्य) का नाम लेकर व्यापार करने वाले बेवकूफ़ों को सम्मानित किया जा रहा है.'...'आंखों का काम

अंक-39 की सभी कहानियां नायाब हैं. पारादोज़, डरा हुआ आदमी, पिनकोड बहुत प्रभावित करती हैं. राजेंद्रसिंह बेदी से मुलाक़ात पसंद आयी. प्रसंगवश में सभी टिप्पणियां ग़ौरतलब हैं. शुक्लजी, नदीम और पूरनसिंह की लघुकथाएं बहुत अच्छी हैं. फ़िराक़ गोरखपुरी का ख़त ऐतिहासिक है.

भवानीसिंह, 85 गायत्रीनगर, महारानी फ़ार्म, दुर्गापुरा, जयपुर (राज.)

आपने जन.-मार्च के अंक में हिन्दी और उर्दू के कुछ वैसे व्यक्ति रचनाकारों के बारे में आलेख प्रकाशित किये हैं, जिन्होंने अपने समय और समाज को अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के ज़रिये गहरे प्रभावित किया है. निर्मल वर्मा, जोश, फ़िराक़ ग़ोरखपुरी, एम. चलपति राव (एम.सी.) राजेंद्रसिंह बेदी, जावेद अख़्तर से संबंधित संस्मरण, रेखाचित्र और बातचीत ख़ासतौर पर पसन्द आये. आपका संपादकीय-'हम ख़ाकनशीनों की ठोकर में' भी दिलचस्प है. कहानियां और उपन्यास-अंश अभी पढ़ नहीं पाया हूं. वैसे ग़ज़लें, नज़्में और कविताएं ठीक-ठाक हैं.

रामनिहाल गुंजन, नया शीतल टोला, आरा-802301 (बिहार)

सम्पादकीय 'हम ख़ाकनशीनों की ठोकर में...' पढ़कर अच्छा लगा. पुरस्कारों व कथित सम्मानों के पीछे भागते साहित्यकार इससे कुछ सबक़ लेंगे. राजेन्द्रसिंह बेदी और जावेद अख़्तर से गुफ़्तगू भी प्रभावशाली है. इन सबसे हटकर सफ़दर इमाम क़ादरी की गोपीचंद नारंग के लिए लिखी बेबाक टिप्पणी उनके सच को उजागर करती प्रतीत हुई. इब्ने-इंशा की आख़िरी नज़्म भी दिल को छू गई. आशा है, शेष, में उत्कृष्ट सामग्री का बड़ा भाग आना अभी भी शेष है.

कृष्णकुमार 'आशु', अक्षर-128, माइक्रोवेव टॉवर के पास, श्रीगंगानगर (राज.)

क्या करूं 'शेष' एक बार जो पढ़ा, पढ़ता ही चला गया. शाइरे-इंक़िलाब जनाब जोश मलीहाबादी का एक मिस्रा है-"पढ़ते पढ़ते मेरी आँखें थक गयीं." 'शेष' से परे जाने को जी नहीं चाहता. कितनी बार कहूं कि जो लोग उर्दू पढ़ना नहीं जानते, उनके लिये आप एक पैग़म्बर *(नाउज़ो बिल्लाह! पेशकार कहिये कि अपनी मुलाज़मत में भी वही रहा-हसन)* से कम नहीं, जो हिन्दी में उर्दू का बेशक़ीमती सरमाया परोस रहे हैं. उर्दू के रस्मुलख़त बाबत आपके नुक़्त-ए-निगाह से मैं भलीभांति सहमत हूं, पर जमाल भाई, मेरे जैसे हज़ारों उर्दू न जानने वाले आपको दिल से दुआ भी तो दे रहे हैं. वैश्वीकरण के इस युग में यूं भी तो अदब और ख़ासतौर पर उर्दू का ग्राफ़ इतना आकर्षक नहीं है, अतः विनती है कि इसे 'शेष' के माध्यम से जारी रखिये. बेशक अपनी जेब से भारी रक़म ख़र्च करके ही, जो आप कर भी रहे हैं. मेरे साथ त्रासदी ये है कि मेरे वालिद अपने ज़माने के उर्दू के जाने-माने अदीब थे, जिनके क़लम का

लोहा 1951 के किसी 'आजकल' के शुमारे में शाइरे इंक़िलाब जोश मलीहाबादी ने भी माना था सो आंख खोलते ही हज़ारों किताबें पत्रिकायें-उर्दू की मेरे सामने थीं. माहौल एकदम अदबी था. मर्ग़ूबअली, ख़लील तनवीर और राजेन्द्र तिवारी को मैंने देखा तो नहीं, हां, उनसे प्यार बहुत करता हूं.

अनिल पठानेकोठी, कृष्ण गली, पठानकोट-145001

'शेष' का जनवरी-मार्च 2006 अंक अपने भीतर तूफ़ान से भरा था. गुज़ारिश में 'हम ख़ाकनशीनों की ठोकर में ज़माना' ने अरूंधति राय के बहाने हमारी अकादमियों, प्रकाशकों के सिस्टम की पोल खोली. 'तारीख़ के आईने में अनारकली', फ़िराक़ गोरखपुरी का एक तारीख़ी ख़त जोश मलीहाबादी के नाम, नये सच से साक्षात्कार कराते हैं. 'शेष' में इस बार 'माज़ी के दरीचे से' मैं राजेन्द्र बेदी से एक मुलाक़ात में उनकी पीड़ा साफ़ नज़र आयी कि उन्हें किसी एक कहानी से पहचाना जाता है जबकि उनकी बहुत-सी कहानियां उस स्तर की हैं. 'गुफ़्तगू' में जावेद अख़्तर से फ़ज़ल इमाम मल्लिक की मुलाक़ात Live सजीव रही. मैं जावेद साहब के बोलने के तरीक़े से वाक़िफ़ हूं. फ़िल्मों के लिए बरसों लिखने वाले जावेद अपने निजी क्षणों में समाज के लिए चिंतन करते रहते हैं, इसलिए वे मौजूदा माहौल में साहित्यकारों की भूमिका पर बेबाक कह गये. ज़िन्दगी के सही मूल्य खोजने तथा लोगों तक पहुंचने की चुनौती जावेद बताते हैं. इलेक्ट्रोनिक मीडिया में किताब पर मंडराते ख़तरों, मुशायरों, कवि सम्मेलनों में बदलाव हिन्दी-उर्दू को लेकर सवाल मुल्क की मौजूदा सूरतेहाल से लेकर अपने फ़िल्मी लेखन तक जावेद के जवाब आशाओं भरे हैं, नई संभावनाएं जगाते हैं. एम. चलपति राव (एम.सी.) का ख़ाका भी दिल के भीतर तक छू गया. 'रक्से शरर' मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद की ख़ुद नविश्त में यादों के दरीचे खुल पड़े, शायरी के दिग्गज रूबरू सामने आ गये.

'शेष' की कहानियां पारादोज़, ऊंटनी, डरा हुआ आदमी, ढलान पर फिसलते लोग, पिनकोड यादगार रहीं. उपन्यास अंश 'सांप और सीढ़ियां' रौंगटे खड़े करने वाला था. प्रसंगवश में नैतिकताओं के टकराव के बहाने, औरत क्या चाहती है, इस्लामी मुल्क में गैर इस्लामी रस्म भी नये सवाल खड़े करते हैं. मुख़्तसर में इस बार सभी लघुकथाएं करंट भरी थीं.

अशफ़ाक़ क़ादरी, मोहल्ला चूनगरान, बीकानेर-334005

'शेष' (जनवरी-मार्च 06) की ये बात विशेष लगी कि–'अरूंधति राय ने साहित्य अकादमी का इनाम न लेकर त्याग व अपनी दिलेरी का सबूत दिया है–जो प्रशंसनीय है. तेलुगु के कवि शेषेन्द्र शर्मा ने कहा है कि–'कविता (साहित्य) का नाम लेकर व्यापार करने वाले बेवकूफ़ों को सम्मानित किया जा रहा है.'...'आंखों का काम

कान, कानों का काम आंखें, पैरों का काम हाथ, हाथों का काम पैर...इस प्रकार–(उल्टे काम किए जा रहे है.) वैसे भी कवियों-शायरों, लेखकों को तो ये अवसरवादी लोग पागल समझते हैं : यथा–महाकवि कालिदास, भवभूति, भास, शायर–ग़ालिब, सौदा, मीर, दार्शनिक शायर इक़बाल (दार्शनिक-फ़िलोस्फ़र भी पागल समझे जाते हैं), रिल्के, पिकासो, सुक़रात (जिन्हें ज़हर दिया गया था), ईसा (जिन्हें सूली पर चढ़ाया गया था), इलियट को तो कहा गया था–'इलियट, तुम ईडियट हुए बिना कविता नहीं कर सकते.'

शायर फ़िराक़ का ख़त–शायर जोश मलीहाबादी के नाम हसीन (?) लगा, क्योंकि 'दिल से जो बात निकलती है–असर रखती है!'

इब्ने इंशा की नज़्म दिल को छूती है–

कुछ प्यार दुलार के धंधे हैं
कुछ जग के दूसरे फंदे हैं
अब गीत गया-संगीत गया
हां शेर का मौसम बीत गया.

कुशल करण 'सांचीहर', सुनारों का बास, जोधपुर (राज.)

पत्रिका ने हमेशा की तरह ही मन मोह लिया देवांशु पाल की कविता एवं सोनाली सिंह की कहानी 'पिन कोड' पत्रिका की उपलब्धि है. देवेन्द्रसिंह की कहानी 'डरा हुआ आदमी' अच्छी बन पड़ी है, बधाई. जावेद अख़्तर ने क्या ख़ूब कहा है कि साहित्यकार तय नहीं कर पा रहा है कि उसे करना क्या है? राजेन्द्र सिंह बेदी से एक मुलाक़ात सटीक रही. लघुकथाओं में नदीम अहमद 'नदीम' एवं डॉ. पूरनसिंह सच की पड़ताल करते हैं.

मितादास, 63/4, नेहरू नगर (प.), भिलाई (छ.ग.)

गंभीर, पठनीय तथा रोचक सामग्री से भरपूर 'शेष' पत्रिका का जनवरी-मार्च 2006 अंक देखा. दो भाषाओं की यह बेजोड़ पत्रिका है. सम्पादकीय...'हम ख़ाकनशीनों की ठोकर में' पर आपकी बेलाग टिप्पणी पसन्द आयी. मधुरेशजी, सफ़दर इमाम क़ादरी, इंतिज़ार हुसैन, सुरेश पंडित, जोश मलीहाबादी के नाम फ़िराक़ गोरखपुरी का एक तारीख़ी ख़त, एम. चलपति राव (एम.सी.) पर आबिद सुहैल का रेखाचित्र, मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद का यादनामा, मुहम्मद हमीद शाहिद की कहानी–'तीन धज्जियां–एक कहानी (पारादोज) मज़्हरूज़्ज़मांख़ां की 'ऊँटनी', सोनालीसिंह की 'पिन कोड 193123', इब्ने इंशा की आखिरी नज़्म, ख़ालिद इबादी की 'मेरे वतन में कोई हादिसा नहीं होता', अंशुमाली रस्तोगी का 'नैतिकताओं के टकराव के बहाने स्त्री-देह पर (कु) विमर्श, ख़ुदेजाख़ान की 'औरत क्या चाहती है'? तथा 'इस्लामी मुल्क में गैर-इस्लामी

रस्म', (प्रसंगवश) रचनाएं अच्छी लगीं.

मलिकज़ादा मंज़ूर की 'यादनामा' के संबंध में एक स्पष्टीकरण. फ़िराक़ गोरखपुरी के साथ रहने वाले तथा 'शौक़ मिर्ज़ापुरी' के नाम से शायरी करने वाले सज्जन का नाम रमेशचन्द्र द्विवेदी है, न कि रमेश सिन्हा. रमेशचन्द्र द्विवेदी ने फ़िराक़ गोरखपुरी पर कुछ वर्षों पूर्व एक पुस्तक भी लिखी थी जो भारत तथा विशेषकर पाकिस्तान में बहुत लोकप्रिय हुई.

श्रीनिवास शर्मा, 53, शिव ठाकुर लेन, (बड़ा बाजार), कलकत्ता-700007

'शेष' का जुलाई-सितम्बर 2005 अंक पढ़ा. पढ़कर अच्छा लगा. कम-से-कम 'शेष' तो यह मानता है कि कहानीकार रेसकोर्स के घोड़े नहीं होते. नेकनीयत अभी भी बची हुई है, यह बड़ी बात है. इतिहास बोध में वापस लौटने के लिये ज़रूरी लेख है 'अछूतोद्धार का सच' (सुरेश पंडित). फ़िलस्तीनी और इराक़ी नज़्में पढ़ते हुए पाठक अन्तरराष्ट्रीय क्षितिज को स्पर्श कर लेता है. साथ ही वहां के कथ्य और शिल्प की जानकारी भी. आप स्वयं एक सुलझे हुए कथाकार हैं. अंक की कहानियां समय की सोच के साथ हैं. ग़ज़लों और कविताओं के चयन में पर्याप्त सतर्कता है. रचनाएं भर्ती की नहीं, न संपादक को ठेलकर गई हैं.

सन्तोष झांझी, क्वा. 1-सी, सड़क-12, सेक्टर-4, भिलाई नगर (छ.ग.)-490001

शेष का जुलाई-सितंबर 05 का अंक देखा. आपका संपादकीय लाजवाब है. अब तक राजेंद्र यादव संपादकीय लिखने में माहिर थे, लेकिन 'वर्तमान साहित्य' की संपादक नमितासिंह के बाद आपका संपादकीय राजेंद्र यादव से कमतर नहीं होता है. आतंकवाद के कारणों की खोज में इस्लाम के मुल्लाओं पर लगे आरोपों का खंडन करते हुए, आपने बड़ी सच्चाई के साथ साम्राज्यवादी ताक़त के सरग़ना अमेरिका को ही आतंकवाद का जनक साबित कर दिखाया है.

हंस-जुलाई 05 के संपादकीय में गौरीनाथ के विचार का भी आपने जो खंडन किया है, वाजिब है. राजेंद्र यादव और 'हंस' के आदर्श समाप्त हो चुके हैं. 'हालाते-हाज़रा' में डॉ. सूरज पालीवाल का लेख काफ़ी महत्त्वपूर्ण होता है. वर्तमान संदर्भ में जो भी घटित हो रहा है, उसकी समीक्षा दी जाती है जो पाठकों के लिये ज़रूरी चीज़ है.

अरुण अभिषेक की कहानी में ग़रीब जनता, भूखी जनता के सोच और पेट की चिंता ने स्थिति को किस तरह बदल दिया है, नेताओं की घोषणा और फिर स्थिति में सुधार का न होना आजाद भारत के लिये एक चुनौती है. कहानी पढ़ कर काफ़ी प्रभावित हुआ. अंक दिसम्बर 05 में आपने रहबानअली राकेश की कहानी छाप कर अच्छा किया. समाज में पनपे नव धनाढ्य वर्ग की घृणा ग़रीबों पर होना समाज का

संवेदनशून्य होते जाने का उदाहरण है. राकेशजी ने नये ढंग से कहानी को सजाया-संवारा है, जो उनकी तमाम कहानियों से अलग है. प्रसंगवश स्तंभ में अंशुमाली रस्तोगी का राजेंद्र यादव के नाम खुला पत्र पढ़ कर अच्छा लगा. बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल उठाये गये हैं पत्र के माध्यम से.

महेंद्र नारायण पंकज, राजकीय प्राथमिक विद्यालय, पैकपार, मेरीगंज, ज़िला-अररिया

चेतावनी

(अंशुमाली रस्तोगी, बरेली के नाम ख़त से)

अभी-अभी प्राप्त शेष के नये अंक (जनवरी-मार्च 06) में प्रसंगवश या कुप्रसंगवश आप बिजली की तरह कौंधते दिखे. नैतिकताओं के टकराव पर टिप्पणी से ही आप संतुष्ट नहीं हुए, चलते-चलते अलग से लिखे पत्र में राजेंद्र यादव के साथ मुझे भी लपेट लिया...अभी-अभी शिल्पायन से प्रकाशित और विश्व पुस्तक मेले में लोकार्पित मेरी डायरी 'बेतरतीब तिथियों में कहीं मैं फिर मिलूं' आपने नहीं पढ़ी है, नहीं तो आपको पता लग जाता कि मेरे स्त्री-विमर्श के पीछे हक़ीक़त क्या है!...मुझे यह देख कर सचमुच हैरानी हुई है कि राजेंद्र यादव को पढ़ते-पढ़ते अब आप उनकी मानसिकता में ही सोचने लगे हैं. एक वाक्य भी आप मेरे लेखन में बता दें जिससे उपरोक्त आरोप की सत्यता प्रमाणित हो सके. असली स्त्री-विमर्श मेरी दृष्टि में वो नहीं है जैसा राजेंद्र यादव, मैत्रेयी पुष्पा या उनके सहयोगी कर रहे हैं. असली स्त्री-विमर्श देह की मुक्ति नहीं, मन की मुक्ति है और उससे भी ऊपर बढ़ कर पारिवारिक या सामाजिक परिवेश में स्त्री को स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार.

यदि शेष संपादक ने आपका पत्र प्रकाशित करने के पूर्व मुझे उसकी प्रतिलिपि भेजी होती, तो मैं आपको अपने बारे में लगाये आरोप का माक़ूल उत्तर देती. लेकिन आज अधिकांश हिंदी संपादकों में नैतिकता कहां बची है? कोई भी किसी के बारे में कुछ भी अनर्गल लिख कर भेज दे, बिना तथ्यों की छानबीन किये और टार्गेटेड लेखक का स्पष्टीकरण लिये संपादक आंख मूंद कर छाप देता है जो साहित्यिक मर्यादा और शालीनता की दृष्टि से निंदनीय है.

इस पत्र की प्रतिलिपि मैं शेष के संपादक को भी भेज रही हूं कि भविष्य में इस तरह की आधारहीन बातें न छापें अन्यथा मुझे अदालती कार्यवाही करनी पड़ेगी. ❑

डॉ. साधना अग्रवाल, 16-बी/4, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार

स्वर्ण जयंती वर्ष
2005 - 2006

पड़ाव से मंज़िल की ओर

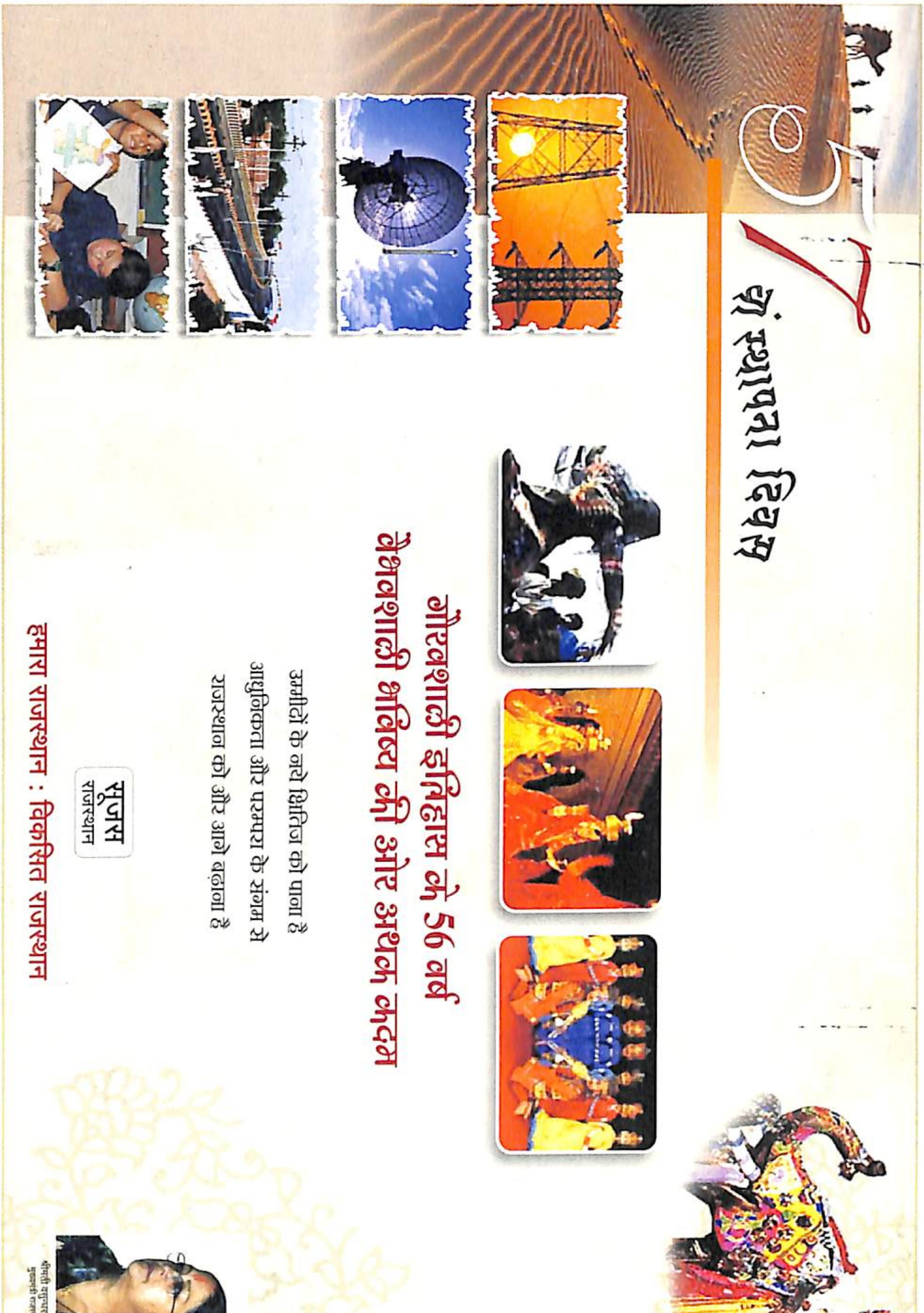
मध्यप्रदेश



मध्यप्रदेश देश के असीम सम्भावनाओं वाले उन चंद राज्यों में से एक है जिस पर प्रकृति की अपार कृपा है। रत्नगर्भा, शस्य श्यामला भूमि, बड़ा वन क्षेत्र, मध्य की भौगोलिक स्थिति और यहाँ के शान्तिप्रिय निवासी। विकास के जनपथ पर प्रदेश में कई मील के पत्थर यात्रा के सहभागी बने हैं, पर यात्रा लक्ष्य तक तभी पहुँचेगी जब इसमें शामिल होंगे सब, हम सब।

नई उम्मीदों का साथ

मध्यप्रदेश


57 वां स्थापना दिवस
गौरवशाली इतिहास के 56 वर्ष
वैभवशाली भविष्य की ओर अथक कदम
उम्मीदों के नये क्षितिज को पाना है
आधुनिकता और परम्परा के संगम से
राजस्थान को और आगे बढ़ाना है
सुजस राजस्थान
हमारा राजस्थान : विकसित राजस्थान
Rajasthan Samwad / ATUL